॥ श्री ॥

॥ दुरभिमान–दूरीकरण ॥

(अनन्त शरणदासकृत "जालियों की पोल और जगद्गुरु बनने का ढोंग" का उत्तर ।)

केशव प्रपन्न रामानुजदास लिखित ।

PRINTED AT THE MODEL PRESS, MADRAS.

1929.

श्री ।

॥ भूमिका ॥



आज हम जो लिखने जा रहे है, ऐसे विषयों पर लेखनी चलाने की हमारी इच्छा स्वाभाविक कभी नही होती, परन्तु हमें यह अगत्या आज लिखना पडा है-यह बात इस भूमिका से मालूम हो जायगी। खास श्रीतोताद्रिमठ के वर्तमान आचार्य सद्गुणी पुरुष है, यह हम जानते है, परन्तु उन के शिष्यो में अथवा उन के अभिमानियों में ऐसे लोग भी वर्तमान है, जो कि असूयालु, दोषैकदर्शी और परनिन्दापर है। श्रीतोतोद्रिस्वामीजी भी इस बात को स्वीकार करने में सङ्कुचित नहीं हो सकेंगे। "जालियों की पोल, जगद्गुरु बनने का ढोग" इस नाम से एक छोटी सी पुस्तक प्रकाशित हुई है, लेखक का नाम इस के अन्त में "अनन्तशरण दास" दिया हुआ है, पता दिया है-रुधौली (फैजाबाद)। हमें तो इस नाम के असलियत में सन्देह है, इस कल्पित नाम से किस ने इस को लिखा है-यह हम अनुमान से जानते है, परन्तु उस से हमें कोई प्रयोजन नहीं, हमें तो केवल उस पुस्तक में लिखी हुई बातों पर विचार करना है और दिखा देना है कि इस में जो कुछ बातें लिखी है सब निर्मूल कल्पित और निस्सार है, और केवल ईर्ष्या और असूया के कारण लिखी गयी है। यह पुस्तक श्रीकाञ्ची प्रतिवादिभयङ्कर मठाधीश्वर जगद्गुरु श्रीमदनन्ताचार्य स्वामीजी की निन्दाओं से भरी हुई है, उक्त आचार्य के प्रति इस पुस्तक में ऐसे ऐसे शब्द प्रयुक्त हुए है, जिन को हम दुहराना नहीं चाहते। तोताद्रिमठ सम्बन्धियों की ऐसी प्रवृत्ति आज नयी नहीं है, पहले भी उक्त आचार्यचरण की निन्दा इन लोगों ने की थी, और उस का समाधान भी श्रीप्रतिवादिभयङ्कराचार्य के किसी अनुयायी ने किया था। सन् १९१६ मे उक्त आचार्यचरण कलकत्ते की तरफ यात्रा कर रहे थे, श्रीतोताद्रिस्वामीजी भी उस समय उत्तर भारत

में यात्रा कर रहे थे, श्रीतोताद्रिमठाभिमानियों ने किसी कल्पित नाम से रीवाँ से निकलते हुए साप्ताहिक पत्र हितचिन्तक में एक लम्बा लेख छपवाया, जिस का उद्देश्य केवल श्रीतोताद्रिस्वामीजी का महत्त्व और श्रीप्रतिवादिभयङ्कराचार्य की न्यूनता दिखाना था। भारतवासियों को विशेष कर श्रीवैष्णव जनता को विदित है कि श्रीकाञ्ची प्रतिवादिभयङ्कराचार्य ने संस्कृतसाहित्य की उन्नति और श्रीवैष्णव सम्प्रदाय की उन्नति के लिये कैसे कैसे कष्ट उठाये है और महान् कार्य किये हैं। आचार्यश्री ने मञ्जुभाषिणी नामक संस्कृत भाषामय साप्ताहिक पत्र निकालना आज से ३० वर्ष पहले प्रारम्भ किया था जो कि आज तक भी चल रहा है, भारत में ही नहीं समस्त भूमण्डल में संस्कृत भाषा का दूसरा कोई साप्ताहिक पत्र आज वर्तमान नहीं है। शास्त्रमुक्तावली नाम से संस्कृतपुस्तकमाला निकालना आज से ३० वर्ष पूर्व आपश्री ने प्रारम्भ किया, जो अब तक भी निकल रही है, और जिस में आज तक पचास (५०) से अधिक कही भी अप्रकाशित प्राचीन संस्कृत शास्त्रीय ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। न्यायरत्नमाला नामक न्यायशास्त्र ग्रन्थमाला भी आप निकाल रहे है। इन मालाओं के सिवाय स्वतन्त्ररूप से भी कई ग्रन्थ आप ने प्रकाशित किया है। यह तो हुई संस्कृत भाषा की सेवा की बात। श्रीवैष्णव सम्प्रदाय की समुन्नति के लिये आप श्री ने ही सर्वप्रथम श्रीवैष्णवमहासभा का स्थापन किया, जिस का प्रथमाधिवेशन प्रयाग क्षेत्र में सन् १९१० में हुआ था, जिस की अपूर्व सफलता को देख असूया से जलते हुए इन्ही तोताद्रि सम्बन्धियों ने और ऐसे ही कुछ दूसरे लोगो ने उस समय भी विघ्नबाधाये उपस्थित की थी। उक्त महासभा का तीन चार अधिवेशनों के बाद जब इन्ही लोगों ने अन्त करा दिया तब आप श्री ने श्रीवैष्णव महासम्मेलन नाम से दूसरी सभा स्थापित करायी। उस का भी जब अकाल में नाश हो गया,

तब तीसरी बार श्रीवैष्णव सम्मेलन के नाम से सभा स्थापित की, जो कि अभी तक जीवित है। श्रीवैष्णव धर्म प्रचार के उद्देश्य से वैदिक सर्वस्व नामक हिन्दी भाषा का मासिक पत्र भी आप श्री ही निकाल रहे है, जिस को श्रीवैष्णव जनता अच्छी तरह से जानती है। ब्रह्मविद्या नामक द्राविड भाषामय पत्र भी आप ने निकाला था। भारत के नाना प्रान्तों में कई बार पर्यटन कर के आप श्री ने जो उपदेश दिये है उन की गिनती नहीं हो सक्ती। कई जगहो में मन्दिर और मठों का स्थापित करना भी आप के अपूर्व कार्यों मे से है।

इस प्रकार श्रीकाञ्ची प्रतिवादिभयङ्कर मठाधीश्वर की कीर्ति आज भारत में ही नहीं, अन्यान्य देशों में भी फैली हुई है। आचार्य श्री की उत्तरोत्तर अभिवृद्ध होती हुई कीर्ति को न सह कर तोताद्रि सम्बन्धी लोग सदा ही आचार्य श्री की निन्दा करते रहते है। ऐसी मौखिक निन्दाओं की तो कोई बात ही नही है। लेख द्वारा निन्दा करना बीच में बन्द था, जब से शुभचिन्तक मे छपी निन्दा का उत्तर निकला तब से कई वर्षो तक इन लोगों को लेखद्वारा निन्दा करने का साहस नही हुआ, परन्तु "स्वभावो दुरतिक्रमः" वाला न्याय झूठा कैसे हो सक्ता है? गत सन् १९२६ के नवम्बर में हैदराबाद में जब श्रीवैष्णवसम्मेलन का अधिवेशन हुआ, उस समय इन लोगों ने फिर वह कार्य आरम्भ किया, एक विज्ञापन छाप कर इन लोगों ने सम्मेलन के समय बॉटा, परन्तु उस पर आचार्य श्री ने ध्यान नहीं दिया, कुछ लोग उस का जवाब देने को उद्यत हुए तो आचार्य श्री ने मना कर दिया, और कहा कि "स्वभावो दुरतिक्रम" है, अतएव वे अपने स्वभाव के अनुसार गालियाँ दें तो उस के बदले में तुम लोग भी गालियॉ दो यह योग्य नही है, तुम लोग अपने स्वभाव का परिचय लोगों को दो, तुम भी गालियाँ दोगे तो दोनों

समानप्रकृति के ठहरोगे, अब रही यह बात कि साधारण लोगों के भ्रम को दूर करना, यह आवश्यक है सही, परन्तु इस विज्ञापन में ऐसी कोई नयी बात नहीं है, वे ही बातें इन मे भी है जो शुभचिन्तकवाले लेख में थी, उस लेख का उत्तर तो पहले ही हो चुका है, अब कुछ आवश्यकता नहीं है ।

शुभचिन्तक में इन लोगों ने क्या लिखा था उस का उत्तर क्या दिया गया था यह पाठकों को ज्ञात होना आवश्यक है, अतएव् हम उन दोनो लेखों को इस पुस्तक के परिशिष्ट के रूप में जोड देते हैं, इस भूमिका मे उतने बडे दो लेखों को रखना योग्य नहीं होगा ।

हैदराबाद के श्रीवैष्णव सम्मेलन के समय जो विज्ञापन पत्र बाँटा गया था उस की नकल नीचे देते है ।—

निवेदनपत्र.

अखील भारवर्षीय श्रीवैष्णव सम्मेलन सभा को ये निवेदन पत्र ।

दक्षिण हैद्राबाद सभापती अधीष्टताओं महाशयों के सेवा में विनयपूर्वक निवेदन कि जाती है के थे सभा के निमन्त्रणपत्र हमारे वैराग्य मण्डल मात्र को किसी अस्थान या मठाधीशों को यहाँ के सभा के कार्यकर्ताओं जनताओं के तरफ से नहीं आया ऊपरोक्त अन्य किसी दुसरी अस्थान से प्राप्त हुआ अब हम को यह सुचीत कराना अवश्य अवश्यक होता है के सभापति श्रीमान् १००८ श्री अनन्ताचार्यजी महाराज कांची निवासी जो के गृहस्थाश्रम है जिन को कुटीचक याने मठाधीशओ जगद्गुरु बन रहे हैं ये शब्दशास्त्रओ रूढी के मर्यादाविरोधहै श्रीवैष्णवों ओमठाधीश जगद्गुरू का अधिकार हमारे तोताद्री श्रीस्वामी श्री श्री श्री अनंत श्री संयुक्त स्वामी हैं जो के भारतमण्डल में प्रसद्धि हैं, अब द्वितीय जगद्गुरु श्रीमान् अनतार्यजी महाराज कब से प्रसिद्ध हुये ये मालुम होना अत्यन्त अवश्यक है क्यों के हम लोग यहाँ के रामानन्दी वैष्णव मण्डल के मठाधीशों स्वामीजी की साष्टांग दण्डोत करना होगा या नही जो के विचार करने योग्य है ऊस लिये दासानुदास को संदेह होता है उस की निवृती पत्र द्वारा होना चाहिये मैं अयोध्या

निवासी वैष्णव रणछोडदास वैद्य मठसदर अस्थान बाबा बालकदासजी महंत श्री गोपालदासजी के अस्थान पर उपस्थीत हूं उत्तर दीजीये

प्रश्न—कुटीचक मठाधीशओ जगद्गुरु कीनको कहते हैं।
गृहस्थआश्रमी इन पदवियों के अधिकारी हैं या नही॥

अहो भाग्य जो के आज द्वितीय वैष्णवसंमेलन का उत्कर्ता श्रीस्वामी जी किये हैं इस में येभी सारांश निर्णय होना कर्तव्य है क्यों के जोन्युन बुद्धीवाले वैष्णव राममंत्र जो के मंत्रराज है उक्तमंत्र को कृतृम याने अनादी नही है इस लेख से अल्पकाल से वादविवाद कर के खण्डन करना चाहते हैं इस विषय का निर्णय श्रीस्वामीजी के श्रीमुख से सारांश होकर उत्तर मिलना अवश्यक है के उन के अल्प विद्यावालों के वादविवाद झगडे समाप्ती होजाये इति निवेदन उत्तर अभिलाषी,

वैद्य रनछोडदास.

हैदराबाद के श्रीवैष्णव सम्मेलन के समय इस प्रकार का विज्ञापन प्रकाशित करने का उद्देश्य इन लोगों का यही था कि श्रीप्रतिवादिभयङ्कराचार्य के प्रति दिन पर दिन अधिकाधिकरूप से आकर्षित होते हुए जनता के हृदयों को वैसा न होने देना, और यदि इस विज्ञापन का कोई उत्तर उधर से प्रकाशित हो तो उस के उत्तर के बहाने फिर गालियों की बोछार छोडना। इस के सिवाय दूसरा उद्देश्य हो ही क्या सक्ता था। विवेचनसमर्थ लोग इस प्रकार के हजार विज्ञापन प्रकाशित होने पर भी अपनी बुद्धि से झूठ सच की परीक्षा कर ही लेते है, कुछ भोले भाले मनुष्य ही चाहे इस से भ्रम में पड जायँ। उस विज्ञापन का जवाब कुछ भी इधर से जब नहीं दिया गया तब इन लोगों ने कुछ और ही युक्ति निकाली, आप ही पूर्वपक्षी और आप ही उत्तरपक्षी बन गये, एक विज्ञापन रामकबलदास—एक कल्पित नाम से इन लोगों ने प्रकाशित किया, दिखाना यह था कि यह विज्ञापन श्रीप्रतिवादिभयङ्कराचार्य के किसी पक्षपाती ने निकाला है। उस विज्ञापन की नकल नीचे देते है।—

गठन्त जालों से बचो ।

दांभिक श्रीवैष्णवो से प्रार्थना पूर्वक प्रश्न है कि आज तक हम साधुदल श्रीतोताद्रीस्वामी के हि गुरु मानते थे पर अब कुछ श्रीरामानुजसिद्धान्त का अवांतर भेदों से अत्यन्त गर्हित और नूतन विचार साएक भिन्न तोताद्री मतहि निकल रहा है वहयह है कि तोताद्रीवाले वैष्णव संन्यासी से हि मुक्ती मानते है इसी निश्चय के उपर कार्यभि कर रहे है वहयह कि अन्यान्य गद्दि वाले श्रीवैष्णवो को अपने गद्दि में शिष्य कर चुके है कतिपयस्थापनधारि शिष्यों के और करा रहे है और रसोई पूजा में अथवा दान दक्षिणा मे स्वगद्दिवाले के हि लेने देने लग गए है इस से एह सिद्ध होता है कि श्रीशठकोपमुनि नाथमुनि प्रभृति लेकर लोकाचार्य महापूर्ण स्वामी इत्यादि सैकडों पूर्वाचार्य जो कि असन्न्यासी है इन को हि असन्न्यासी से दिक्षित होने के कारण मुक्ती नहि तो इन के शिष्यों का मुक्ती तो असम्भव हि है इन दांभिको के मत से ! और मूल श्रीरामानुज स्वामीहिं महा पूर्णस्वामी असन्न्यासि का शिष्य होने के कारण इस आपत्ति कहा पडती है पाठक समझे ? और संन्यासी सन्यासी की परम्परा श्रीलक्ष्मीनारायण पर्यंत तो नहि जाती है तो जिन के नवीन गर्हित गठन्तों से प्रथमादि आचार्यों का ही मुक्ती में संदेह और श्रीरामानुजस्वामीकादद्दि व्यसेतु तखड पखड हो जाते है तो इन को मै सम्प्रदायाचार्य तथा जगद्गुरु कैसेमान लु ? श्रीयामुनमुनि संन्यासी " पितामह नाथमुनि विलोक्य " इत्यादि वचनों सें असंन्यासीनाथमुनी को चरणरजका आश्रय लेते हैं अन्याय गद्दीवाले श्रीवैष्णव ठीकठीक श्रीरामानुज सिद्धान्त से तिलमात्र कल्पित पथपर नहि है और एलोग सिंहासन में लिगाकार चिह्न देते है इन से बडगल ही ठीक है इस से यह प्रतीत होता है कि मैं साधु दल इतनी कम जोर संस्था में कैसे अट सकुगा, श्रीरामानुजस्वामी तो गद्दि हि नहि बांधे और नहि हिरण्यमयी शिविकारोहण में ही प्रमाण है वलके निषिद्ध तथा लोकप्रतीतिविरुद्ध है इस से श्रीरामानुजस्वामी को शेषावतार शास्त्रों में लिखा है और लक्ष्मणजि को हम लोग शेषावतर कर के मानतेहि हैं तो केवल रामानुज स्वामी को मानने में कोई आपत्ति नहि है और जैसे सब स्वतंत्र तैसे मै स्वतंत्र हु. इस का उत्तर नहिं आने से आन्यान्य गद्दिवालेहि जगद्गुरु समके जायेगे.

लेखक राम कवलदास,
अयोध्या उत्तराभिलाषि, हरिद्वार.

इस के बाद इन्ही लोगों ने उस का प्रतिवाद करते हुए एक लेख साप्ताहिक श्रीवेङ्कटेश्वर—समाचार आदि कुछ पत्रों में छपवाया, उस का नकल भी इस के नीचे देते है।—

प्रेरित पत्र।

सावधान।

हैदराबाद दक्षिण के द्वितीय श्रीवैष्णव सम्मेलन के समय अयोध्या के वैद्य रणछोडजी ने एक विज्ञप्ति प्रकाशित कर के यह जिज्ञासा की थी कि श्रीमत् अनन्ताचार्यजी गृहस्थ हैं, ऐसी दशा में मन्त्रोपदेष्टा आचार्य और जगद्गुरु हो सक्ते हैं वा नहीं? इस से कुछ लोग समझ गये हैं कि श्रीतोताद्रि स्वामीजी की ओर से अथवा उन के अनुयायियों की प्रेरणा से यह विज्ञप्ति प्रकाशित की गयी है। इसी भ्रांति से किसी एक राम कमलदास ने (अयोध्या और हरिद्वार दो जगह का अपने को बता कर) श्रीतोताद्रिस्वामीजी के ऊपर अनुचित आक्रमण किया है। मैं ने स्वयं तथा अन्यान्य श्रीरामानदीय मित्रों द्वारा श्रीरामानदीय वैष्णवों में सर्वत्र पूछताछ की है, जिस से विदित हुआ है कि इस कलह से श्रीरामानदीय श्रीवैष्णवो का कोई भी सम्बन्ध नहीं है। यह निर्विवाद है कि प्रमणिकों के लिये मंत्रोपदेष्टा गुरु विरक्त ही सर्वश्रेष्ठ है। मैं समझता हूं कि यह भ्रम किसी को अब नहीं होगा कि रामकमलदास श्रीरामानदीय सम्प्रदाय का है और श्रीरामानदियों की ओर से यह आक्षेप कर रहा है। मेरे विचार में रामकमलदास कल्पित नाम है यदि ऐसा न हो तो उसे अपना पूरा पता बताना चाहिये।

द. बजरङ्गदास श्रीरामानन्दीय
श्रीवैष्णव बृन्दावन

उस के पश्चात् इन लोगों ने उस रामकबलदास के विज्ञापन के खण्डन करने के बहाने श्रीप्रतिवादिभयङ्कराचार्य की निन्दाओं से भरी हुई एक छोटी पुस्तक " जालियों की पोल, जगद्गुरु बनने का ढोंग " नाम से प्रकाशित किया। उस में क्या लिखा है, यह तो आगे स्पष्ट हो

हो जायगा। हम उस पुस्तक में लिखी हुई बातों को अविकल उद्धृत करते हुए उन का समाधान इस पुस्तक में करेंगे। उन लोगों ने जो गालियाँ दी है उन का जवाब हम गालियों से नहीं देंगे, किन्तु सच्ची और सप्रमाण बातों को यहाँ पर लिखेंगे जिस से कि पाठकों को उस पुस्तक में लिखी हुई बातों की सत्यता और असत्यता का ज्ञान हो जाय। पाठकों को यह बात ध्यान में रखना चाहिये कि "जालियों की पोल" नामक जो पुस्तक लिखी गयी है, वह रामकबलदास नाम के किसी व्यक्ति के लिखे हुए उस विज्ञापन के खण्डन रूप में है, जो पहले इसी भूमिका में छपा है। "जालियों की पोल" नामक पुस्तक के लेखक का नाम अनन्तशरणदास, पता—रुधौली (फैजाबाद) है। पुस्तक तेरह पृष्ठों की है, १, २, ३, इस क्रम से नम्बर दे कर १३ पैरेग्राफों में पूरी की गयी है। पुस्तक में प्रेस का नाम भी अवश्य ही छपा रहा होगा, परन्तु हमारे हाथ में जो पुस्तक है, उस में आखिरी के पाने में नीचे का वह भाग कैंची से काटा हुआ है जिस में कि प्रेस का नाम छपा रहा होगा। अस्तु, हम पाठकों से निवेदन करते है, वे अपने चित्त को उदासीन बना कर निष्पक्षपातभाव से इस को पढें, और सारासार विवेचन पूर्वक तात्त्विकार्थ का ग्रहण करें। इति।

श्री ।

॥ दुरभिमान दूरीकरण ॥

जगन्नाथ श्रीमस्त्वमसि जगतामादिमगुरु
हितैषी लोकाना त्वमसि जगदुद्धारकृनर्धाः
च्युता ये सन्मार्गात्सततपरानिन्दैकनिरता
दयालो तान्मार्गं गमय वितरैषां शुभमतिम् ॥

"जालियों की पोल" नामक पुस्तक में जो बातें लिखी गयी है, उन की परीक्षा इस पुस्तक में हम करेंगे। पहले "जालियों की पोल" नामक पुस्तक के एक पेरग्राफ अविकल उद्धृत कर के उस की परीक्षा करेंगे, फिर दूसरे पेरग्राफ को उद्धृत कर उस की परीक्षा, यह क्रम हम रखेंगे। सावधानी से और निष्पक्षपात हो कर इस को जिज्ञासु पुरुष पढें, और तत्वार्थ को समझे।

"॥ जालियों की पोल ॥

जगद्गुरु बनने का ढोंग।

मारीचोहि मृगो जातो मायया राम संनिधौ।
अनन्तार्योधुनाराम कवलो जायतान्नुकिम् ॥१॥
गढन्त जाले खल मुद्रितेयन्त्र विद्यते मुद्रणयन्त्र नाम।
अहो रहस्यस्यविकास भीत्या तदप्यनन्त कवली चकार ॥२॥

महानुभावो! आप लोगो को स्मरण होगा कि दक्षिण हैदराबाद के वैश्य महासभा के सभापति पंडित अनन्ताचारी को एक नोटिस देकर अयोध्या के वैद्य रणछोडदासजी ने यह प्रश्न किया कि पं अनन्ताचारी गृहस्थ हैं, अत· आप जगद्गुरु कैसे हो सकते है। अपने को मठाधीश और परिव्राजकाचार्य क्यों लिखते हो। आपको शिष्य करने का अधिकार कब से मिला है। इत्यादि इत्यादि। परन्तु

उस का उचित उत्तर न दे सकने के कारण किसी ने काल्पनिक रामकबलदास के नाम से " गढन्त जालियो से बचो " शीर्षक का एक पत्र छपवा कर (जिसमे से प्रेस का नाम भी काट लिया गया है) जगद्गुरु श्री तोताद्रिस्वामीजी पर गालियों की मूसल वर्षा कर के अपने को जगद्गुरु न होने की दुःखाग्नि को बुताने की धृष्टता की है । आश्चर्य यह है कि वह टट्टी के आड की शिकार हम रामानन्दियों के नाम से किया गया है ।

यद्यपि प बजरङ्गदासजी ने ता १८ अप्रेल के वेंकटेश्वर समाचार पत्र में उसका प्रतिवाद भी संक्षेप में छपवा दिया है, तो भी समस्त महानुभावों की आज्ञा से प्रत्येक आक्षेपों का उत्तर देने के लिये हमें वाध्य होना पडा है । श्रीतोताद्रिस्वामीजी के विषय में हम साधुओं की जो श्रद्धा भक्ती है, वह इन धूर्तायियों से घट नहीं सक्ती है " अशक्तास्तुत्पदङ्गन्तुं ततोनिन्दां प्रकुर्वते " के सिवा आचारी रामकबलदासजी क्या कर सकते हैं । अस्तु अब मैं गढन्त जाल के बहुत से वाक्य उद्धृत करके विचार करता हू । गढन्त जाल का पहिला वाक्य " १-अब रामानुज सिद्धान्तों के अवान्तर भेदों से अत्यन्त गर्हित एक भिन्न तोताद्रिमत ही निकल पडा ह । " इससे मालूम होता है कि जिसके नेत्र में तिमिर रोग होता है, उन के लिये स्फटिक भी पीला दिखाई देता है । उसी प्रकार जाली जी अपने दोषों को तोताद्रिवालो मे मढ कर सन्तोष मानना चाहते है । क्यों नहीं " आत्मवन्मन्येभूतेषु य पश्यतिसपडित " आप भी तो पडित हैं (उलूक को सूर्य के सामने ही अंधेरा है ।) मै बहुत नम्रता से पूछता हूं क्या श्रीरामानुजस्वामीजी अथवा उनको भी पूर्वाचार्य कोई भी स्वयमाचार्य कहलाते थे? क्या केशवसोमयाजी प्रभृति ने भी अपने पुत्रों को चेला करने या पिता से चेला होने का ढोंग फैलाया था ? उपनिषद की ओर जरा ध्यान दीजिये। उद्दालक ऋषि ने अपने पुत्र श्वेतकेतु को चेला मूंडन की धृष्टता की थी। या और ही किसी ने ऐसा दुराचार किया है। उलटा अपना पिता का शिष्य स्वयमाचार्य आदि लोक और शास्त्र स अत्यन्त गर्हित माने गये हैं। स्वयमाचार्य पद का यही अर्थ है कि किसी के शिष्य नहीं हों अर्थात् निगुरा हो । पडितजी गुस्सा न होकर अपनी छाती पर हाथ धरके कहिये, रामानुज से ही नहीं बल्कि समस्त वैदिक नियमों से विरुद्ध आचरणवाले आप लोग नितान्त गर्हित हैं या वैदिक मार्गानुयायी तोताद्रिवाले ? आप लोक शास्त्रीयमर्यादा से दीक्षित श्रीवैष्णव न होने पर भी, धोखे से अज्ञानियों को साडों के समान दाग २ चेला मूड कर " लाभी गुरु लालची चेला । भई नरक में ठेलं ठेला ॥ " को चरितार्थ करते हो । इस से अधिक मनमुखी पंथ क्या हो सकता है ।

परीक्षा—दक्षिण हैदराबाद में जो श्रीवैष्णव सम्मेलन का अधिवेशन हुआ था, उस में शायद वैश्य लोगों की संख्या अधिक रही होगी, इस कारण से उस का वैश्य महासभा नाम से उल्लेख पोल के लेखक करते हैं, वे चाहें जिस नाम से उल्लेख करें, सभा श्रीवैष्णवों की थी। जिस स्थान मे अधिवेशन होता है वहाँ के अधिवासी अधिक संख्या में हुआ करते हैं, यह सभी सभाओं में देखा जाता है, कांग्रेस भी जिस प्रान्त मे होता है उस प्रान्त के डेलिगेट ही उस में अधिक होते है, इसी स्वाभाविक नियम के अनुसार हैदराबाद के अधिवेशन में भी उस रियासत के ही वैष्णव अधिक संख्या मे आये थे, वैश्य ही वहाँ वैष्णव अधिक है, अतएव उन की संख्या अवश्य अधिक रही होगी, इस से क्या? सभा मे जिन विषयों की चर्चा की जाती है उन्ही के अनुसार सभा का नामकरण होता है। क्या पोलवाले यह कह सक्ते हैं कि वैश्यजाति से सम्बन्ध रखनेवाले विषयों की ही वहाँ चर्चा हुई थी? नही तो, फिर उस अधिवेशन को वैश्यमहासभा कहने का क्या कारण है? क्या इन के लिखने से ही वह वैश्यमहासभा हो जायगी? पोल के लेखक चाहे जैसे लिखें, उस से क्या होना है, इन की उक्ति कोई वसिष्ठ की उक्ति तो है नहीं, जो कि "वाचमर्थोनुधावति" हो जायगी!

वैद्य रणछोडदासजी ने अपने विज्ञापन में जो बातें पूछी थी, उन के उत्तर उस वक्त न दिये गये इस का कारण तो भूमिका में बताया ही गया है, हॉ यदि पोलवाले को उन का उत्तर ही जानना हो तो अब जान लें, हम यहाँ लिख देते है। पहला प्रश्न यह है कि गृहस्थ जगद्गुरु कैसे हो सक्ते है? इस का उत्तर हम पीछे देंगे। यह प्रश्न यदि तत्वबुभुत्सु का होता तो हम को उत्तर कुछ और तरह से देना पडता,

परन्तु यह है दुरभिमानियों का प्रश्न, अतएव हमें भी तदनुसार ही चलना पडता है। अतएव हम उन से भी इसी प्रश्न को बदल कर पूछते है। हम पोलवाले से पूछते है कि सन्न्यासी ही जगद्गुरु कैसे हो सक्ता है? यदि सन्न्यासी होना ही जगद्गुरु होने के लिये पर्याप्त कारण है तो आज इस भरतखण्ड में नाना मतावलम्बी सन्न्यासी कहलानेवाले जितने मनुष्य है वे सभी जगद्गुरु बन जायेंगे। क्या पोलवाले यह स्वीकार करते है? जगद्गुरु बनने के लिये सन्न्यासी होना चाहिये, इस का प्रमाण ही क्या है? जैसे सन्न्यास एक आश्रम का नाम है वैसे ही गृहस्थ यह भी एक आश्रम का नाम है। गृहस्थ जगद्गुरु नहीं बन सक्ता है तो सन्न्यासी ही कैसे बन सक्ता है? जगद्गुरु बनने के लिये न तो सन्न्यासाश्रम ही कारण है न गृहस्थाश्रम ही। सन्न्यासी यदि सन्न्यासी होने के कारण ही जगद्गुरु हो सके तो गृहस्थ भी गृहस्थ होने के कारण ही जगद्गुरु क्यों नहीं बने? वास्तव में पूछा जाय तो सन्न्यासी का गुरुत्व ही मुश्किल से सिद्ध होगा तब जगद्गुरुत्व की बात ही क्या?

२- दूसरा प्रश्न मठाधीशत्व के सम्बन्ध में है। वे पूछते है कि अपने को मठाधीश क्यों लिखते हो? इस का सीधा उत्तर यह है, वे मठ के अधीश है, इस लिये अपने को मठाधीश लिखते है। यदि कहो कि गृहस्थ मठाधीश कैसे हो सक्ता है, तो हम पूछेंगे कि क्यों नही हो सक्ता है? मठ का अधीश अर्थात् मालिक-नियामक यही मठाधीश शब्द का अर्थ होगा, तब गृहस्थ भी मठ के मालिक या नियामक होने पर मठाधीश क्यों नहीं हो सक्ता? अतएव श्रीप्रतिवादिभयङ्कराचार्य गृहस्थ होने पर भी मठाधीश हो सक्ते है। गृहस्थ लोगों के वासस्थान का नाम मठ है या सन्न्यासियों का? इस विषय का पूरा विवरण देखना चाहो तो फरिश्ता के शुभचिन्तक मे छपे लेख का उत्तर जो वैदिकसर्वस्व

में छपा था उस को पढो, इसी पुस्तक के अन्त में परिशिष्ट रूप से वह छपा है। यहाँ भी कुछ विवरण कर देते है। "मठ निवासे" धातु से मठ शब्द बनता है. योगार्थ तो उस का वासस्थान है। "**मठ—श्छात्रादिनिलयः**" इस अमरकोशानुसार छात्र आदि के रहने के स्थान मुख्यतया मठ शब्द का अर्थ होता है। छात्र शब्द मुख्यतया विद्यार्थियों का नाम है। विद्यार्थी लोग गुरुकुलवास करते है. गुरुओं के वासस्थान ही गुरुकुल है, गुरु—अर्थात् वेदादिविद्या प्रदाता गृहस्थ ही होते है। अतएव मठशब्द का मुख्यार्थ छात्र जहाँ रहे एसे गृहस्थ—गुरुओं का वासस्थान ही है। उपर उदाहृत अमरकोश के श्लोक की टीका भट्टक्षीरस्वामी यों करते है—"**मठ्यतेऽस्मिन्मठः, मठ निवासे, छत्रशीला विद्यार्थिनश्छात्राः, छत्रेण गुरुसेवा लक्ष्यते, 'छत्रादिभ्योणः' सत्रशाला प्रतिश्रयश्च।**" इस का अर्थ यह है—जिस में वास किया जाता है वह मठ है, 'मठ निवासे' धातु से यह शब्द बनता है, छत्र जिन का शील हो वे छात्र कहलाते है, छत्र शब्द से गुरुसेवा लक्षित होती है; 'छत्रादिभ्योण' सूत्र से छत्र शब्द के उपर ण प्रत्यय आने से छात्र शब्द बनता है। इस प्रकार से मठशब्द का अर्थ है सत्रशाला और प्रतिश्रय। इस क्षीरस्वामी के व्याख्यान के अनुसार मठ शब्द के दो अर्थ है—एक सत्रशाला, दूसरा प्रतिश्रय। अब देखना चाहिये सत्रशाला किस को कहते है? वाचस्पत्य कोश में सत्रशाला का अर्थ यों लिखा है— "**सत्रशाला स्त्री ६ त। अन्नजलादेर्दानार्थे कल्पिते गृहे। हेम**" अर्थात् अन्न जल आदि देने के लिये जो घर बाँधा जाता है उस का नाम सत्रशाला है। अब प्रतिश्रय शब्द का भी अर्थ देख लेना चाहिये। वाचस्पत्य कोश में प्रतिश्रय शब्द का अर्थ यो किया है—"**प्रतिश्रय. पु. प्रतिश्रीयते प्रति श्रि—आधारे अच्। यज्ञगृहे, जदा, २ स-**

भायाम्, ३ आश्रये च, मेदि. ४. गृहे, हेमच। " अर्थात् यज्ञगृह, सभा, आश्रयमात्र, गृहमात्र, ये चार अर्थ प्रतिश्रय शब्द के है। अमरकोश की एक दूसरी टीका माहेश्वरी है, उस में उपर उदाहृत अमरकोश के श्लोक की व्याख्या करते हुए व्याख्याकार ने लिखा है– " **छात्रादिनिलयः – शिष्यादीनां गृहं मठ इत्युच्यते।** " अर्थात् शिष्य आदियों का घर मठ कहलाता है। वैजयन्ती कोश में भी मठशब्द का यही अर्थ बताया गया है– " **मठावसथ्यौ छात्रादिवासो वेण्ठं विटाश्रये।** " [वैजयन्ती पाताल काण्ड पुराध्याय] मठ और आवसथ्य ये दोनो शब्द छात्रादि वासस्थान के नाम है।

उपर के विवरण से यह मालूम हो जायगा कि मठ शब्द का अर्थ मुख्यतया सन्न्यासियों का वासस्थान नही है। कथञ्चित् लाक्षणिक गौण अर्थ करने पर सन्न्यासियों का वासस्थान भी मठशब्द–वाच्य हो भी जाय तो कोई हानि नही है। वैदिक धर्मशास्त्रों के अनुसार जब सन्न्यासी हस परमहंस आदि को एक जगह नियतवास करना ही निषिद्ध है, तब उन का वासस्थान पक्का मकान, जिस को मठ कहा जाय, हो ही कैसे सक्ता है ?

अस्तु, हमें कोई आपत्ति भी नही है–सन्न्यासियों के वास गृह को भी कोई मठ कहले, हमें तो इतना ही बतलाना है कि गृहस्थाश्रमी गुरु जहाँ वास करते हों, ऐसे छात्रा वास ही मुख्यतया मठ कहलाता है। अतएव श्रीप्रतिवादिभयङ्कराचार्य गृहस्थाश्रमी होने पर भी उन का वासस्थान अवश्य ही मठ कहा जा सक्ता है, इस प्रकार उन को मठाधीश कहना भी सुसङ्गत है।

संक्षेप में मठशब्द का विचार यहाँ पर हम ने कर दिया है। बुद्धिमानों के लिये इतना ही पर्याप्त है। तीसरा प्रश्न है " परिव्राजकाचार्य क्यों

लिखते है ? " खास श्रीप्रतिवादिभयङ्करााचार्य ने स्वयं अपने लिये कहीं परिव्राजकाचार्य विशेषण नही लिखा है । लिखा भी जाय तो कोई अनौचित्य भी नहीं है । " परिव्राजकाचार्य " इस शब्द का समास " परिव्राजकश्चासावाचार्यश्च " ऐसा कर्म धारय लिया जाय तब तो श्रीतोतोद्रिस्वामीजी भी परिव्राजकाचार्य नही हो सक्ते ? परिव्राजक शब्द– परि–सर्व परित्यज्य, व्रजतीति परिव्राट् इस प्रकार की व्युत्पत्ति से बना है । " परौ व्रजे षश्च " इस औणादिक सूत्र से विण् प्रत्यय आने पर यह शब्द बनता है । सर्ववस्तुओं का परित्याग कर के जो वन में चला जाता है वही परिव्राट् है । सन्न्यासियों को परिव्राट् कहना भी इसी कारण से है । सन्न्यास विधान प्रकरण में " यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत् " इस प्रकार की श्रुति पायी जाती है, जिस समय मनुष्य के हृदय में वैराग्य उत्पन्न हो उसी समय सब चीजों का परित्याग कर के बन में चले जाने का विधान है, सन्न्यास ग्रहण करने का अधिकार ही वैराग्य है, लालच नही, स्वाभाविकरूप से मनुष्यों के हृदयों में वैराग्य उत्पन्न होता है, जब वैराग्य उत्पन्न हो तभी सन्न्यास ग्रहण हो सक्ता है अन्यथा नही, इस प्रकार वैराग्य के कारण सर्ववस्तुओं का परित्याग कर वन मे जानेवाला परिव्राट् होता है । अब हम पूछते है, क्या श्रीतोताद्रिस्वामीजी इसी प्रकार के वैराग्यशाली है ? नहीं तो फिर वे परिव्राजक कैसे हो सकेंगे ! परिव्राजक शब्द का लाल कपडा धारण करना तो अर्थ है नहीं । सच्चा वैराग्य आवश्यक है । केवल तोताद्रिस्वामीजी ही क्यों ? जितने मठधारी सन्न्यासी है वे सभी मुख्यतया परिव्राजक नहीं बन सक्ते । यदि कहो कि वैराग्य हो वा न हो, सुरू में तो ये लोग भी एक वार घरद्वारा छोड कर आते ही है, फिर परिव्राजक होने में क्या बाधा है ? सुनो, यदि एक बार घर का परित्याग करना ही परिव्राजक होने के लिये पर्याप्त है तब गृहस्थ भी यदि एक बार घर

द्वार छोड कहीं चला जाय, फिर वहीं कमाई कर के घर गृहस्थी जमा ले, तब वह भी परिव्राजक ही ठहरेगा, क्या यह तुम स्वीकार करते हो? ये मठीय सन्न्यासी भी तो मठ की सम्पत्ति मिलने की आशा से ही घर की थोडीसी पूँजी छोड कर आते है , और मठ में आकर अधिक सम्पत्ति का उपभोग करते है । हॉ, तो कर्मधारय समास तो परिव्राजकाचार्य शब्द में तुम्हारे लिये अनिष्टकारी है । "परिव्राजकस्य आचार्यः" ऐसी व्युत्पत्ति मानों तब तो जिन के शिष्यो मे एक अथवा अधिक परिव्राजक हों वे सभी परिव्राजकाचार्य ही है । श्रीप्रतिवादिभयङ्कराचार्य के शिष्यों में एक दो परिव्राजक मिलना कठिन नहीं है, अतएव उन के विषय में कोई परिव्राजकाचार्य विशेषण लगावे तो कोई आपत्ति नहीं हो सक्ती ।

चौथा प्रश्न है—"आप को शिष्य करने का अधिकार कब से मिला है" गृहस्थ-स्वयमाचार्य पुरुषों के वश में जन्म लेनेवालों को शिष्य करने का अधिकार जन्म सिद्ध होता है। क्या इस सुप्रसिद्ध सामान्य विषय को भी प्रश्नकर्ता नहीं समझ सक्के थे ? जैसे अन्यान्य पैतृक सम्पत्तियों में पुत्रों को जन्मसिद्ध हक होता है और जैसे एक राजकुमार का पैतृक परम्परा प्राप्त राज्य में सत्व जन्म से सिद्ध होता है उसी प्रकार इस को भी समझना चाहिये । यह बात उन्ही वशों के लोगों को है, जिन के पूर्वजों को पूर्वाचार्यों ने आचार्यपीठों मे बैठाया है । हाँ, सन्न्यासियों को अवश्य ही गुरु से शिष्य करने का अधिकार प्राप्त करना पडता है, क्यों कि वे " यत्र कुत्र कुले जातो येन केनापि पालितः " होते है । कोई मठाधिपति सन्न्यासी जब परमपद जाने की तैयारी में हो तब अपने शिष्यों में से किसी को सन्न्यास दे कर अपना उत्तराधिकारी कायम करता है, पश्चात् उन के परमपद यात्रा के वह उत्तराधिकारी शिष्य करता है । हॉ, कभी कभी ऐसा भी होता है कि मठाधिपति सन्न्यासी के अचिन्तितरूप से परपदयात्रा कर जाने पर पीछे के लोग किसी को स-

न्न्यास दिला कर मठाधिपति बनाते हैं, तब वह, शिष्य करने लगता है, उन का अधिकार केवल साङ्केतिक होना है । क्यों कि दस आदमियों ने मिल कर उस व्यक्ति को मठाधिपति बना दिया है, अतएव उन्ही के सङ्केत से वह शिष्य करने लगता है । गृहस्थ स्वयमाचार्यपुरुषों में यह बात नही है. पिता का अधिकार पुत्र को दायप्राप्त मिलता है । औरस पुत्र न होने पर यदि कोई दत्तक पुत्र बनाया जाता है तब शास्त्रीय दत्तकविधि के अनुष्ठान करने से उस दत्तक पुत्र को भी दायाधिकार प्राप्त हो जाता है ।

श्रीप्रतिवादिभयङ्कर पीठ के वर्तमान आचार्य श्रीमदनन्ताचार्य के पूर्वजों को शिष्य करने का अधिकार कब मिला यह बताने की आवश्यकता नही, क्यों कि प्रश्नकर्ता ने यह बात नहीं पूछी है । फिर भी हम बताये देते है, श्रीतोताद्रि मठ के प्रथम आचार्य को तो श्रीवरवर-मुनिस्वामीजी का दिया हुआ शिष्य करने का अधिकार होगा, श्रीप्रतिवादिभयङ्कर मठ के प्रथम पुरुष श्रीरामानुजस्वामीजी के बनाये ७४ पीठों में श्रीमुड्डुम्बैनम्बि के वंश में है, अतएव वे अष्टदिग्गज में मिलाये जाने के पूर्व ही स्वयमाचार्यपुरुष थे, इस प्रकार उन का अधिकार श्रीरामानुज स्वामीजी के समय से है, अतएव श्रीतोताद्रिस्वामीजी को जिस समय में अधिकार मिला उस से तीन शताब्दियों के पूर्व श्रीप्रतिवादिभयङ्कराचार्य को अधिकार मिला है ।

जालियों की पोल के लेखक को अब उन प्रश्नों के उत्तर मिल ही गये, जिन के न मिलने की शिकायत वे कर रहे हैं ।

हम किसी को गालियाँ देने के पक्षपाती नही है, अतएव श्रीतोताद्रिस्वामीजी को कोई गालियाँ दे तो उस का हम समर्थन नहीं करेंगे। परन्तु रामकमलदास के उस विज्ञापन में श्रीतोताद्रिस्वामीजी के प्रति एक

भी गाली का शब्द दिखाई नहीं देता, उस में तो केवल तोताद्रिमठ के शिष्यों की कुछ कार्यवाही का वर्णन है । अर्थात् तोताद्रिमठ के कुछ शिष्य लोग जो यह कहा करते है कि सन्न्यासी के शिष्य होने पर ही, तत्रापि तोताद्रिमठ के शिष्य होने पर ही मुक्ति मिलती है–इत्यादि । उसी पर कुछ लिखा गया है, और अपनी इस उक्ति को चरितार्थ करते हुए वे लोग अन्यान्य आचार्यों के शिष्यों को तोताद्रिस्वामीजी के पास दुबारा जो शिष्य कराया करते है इस पर भी कुछ लिखा हुआ है। खास श्रीतोताद्रिस्वामीजी का नाम लेकर एक भी अपशब्द उस मे लिखा हुआ नहीं दिखाई देता ।

अनन्तशरणदासजी की यह उक्ति तो निरर्थक ही है कि " अपने को जगद्गुरु न होने की दु.खाग्नि को बुझाने की धृष्टता की है " इत्यादि, क्यों कि श्रीप्रतिवादिभयङ्कराचार्य को जगद्गुरु कहने की प्रथा तो तोताद्रिस्वामीजी को जगद्गुरु कहने की प्रथा जब से हुई उस से भी पूर्वकाल की है, यह प्रमाण सिद्ध है । सच्ची बात तो यह है कि श्रीरामानुज सम्प्रदाय के कोई भी आचार्य, केवल रामानुज सम्प्रदाय के ही क्यों, शङ्कर सम्प्रदाय के आचार्य को छोड कर अन्य किसी भी सम्प्रदाय के आचार्य तब तक अपने को जगद्गुरु लिखने में हिचकिचाते थे, जब तक कि श्रीकाञ्ची प्रतिवादिभयङ्कर मठाधीश श्रीमदनन्ताचार्य महाराज ने यह साबित नहीं कर दिया कि श्रीशङ्कर सम्प्रदाय के समान ही श्रीरामानुज सम्प्रदाय के आचार्य को भी जगद्गुरु कहलाने का हक है । इस के लिये आचार्यचरण को कई बार शास्त्रार्थ करने पडे है, मामला कोर्ट तक पहुँचने की नौबत भी आयी थी । इतना परिश्रम कर के जब श्रीप्रतिवादिभयङ्कराचार्य ने अन्य सम्प्रदायवाले आचार्यों को भी जगद्गुरु कहलाने के अधिकार को सिद्ध किया तो पीछे से सभी सम्प्रदाय के आचार्य निर्भय हो कर इस शब्द का उ-

प्रयोग करने लगे । कोई निष्पक्षपाती मनुष्य तत्वबुभुत्सु हो कर खास श्रीतोताद्रिस्वामीजी के पास पहुँच कर यह प्रश्न करे कि आप जगद्गुरु शब्द को कब से व्यवहार मे लाने लगे है, तो आशा है कि वे भी सत्य बात को बताने में सङ्कोच नहीं करेगे । श्रीतोताद्रिस्वामीजी के प्रति जगद्गुरु शब्द का प्रयोग किसी प्रामाणिक व्यक्ति ने कब किस कागज में किया है यह कोई तटस्थ पुरुष पहले जान ले, पश्चात् वह श्रीप्रति-वादिभयङ्कराचार्य के पास जा कर उन के पास के जिस कागज में उन के प्रति जगद्गुरु शब्द का प्रयोग हुआ हो उस कागज के समय को तुलना की दृष्टि से देखे तो मालूम हो जायगा कि श्रीप्रतिवादिभयङ्करा-चार्य के प्रति जगद्गुरु शब्द के प्रयोग करने की प्रथा पुरानी है । इस वक्त तो जगद्गुरु शब्द लूट की चीज बन गयी है, हरेक आदमी इस का उपयोग करने लग गये है, यहाँ तक कि कल परसों से जो स्वयं ही आचार्य बने है वे भी इस का उपयोग करने लगे है, कोई पूछनेवाला नहीं है ।

स्वयमाचार्यत्व का विचार ।

अनन्तशरणदासजी कहते है कि पुत्र पिता का शिष्य नही हो सक्ता, श्रीरामानुजस्वामीजी अथवा उन के पिता केशवसोमयाजी अपने पिता के शिष्य नहीं हुए–यह दृष्टान्त वे देते है, उपनिषद के आधार ले कर उद्दालक और श्वेतकेतु का दृष्टान्त भी वे देते हैं । स्वयमाचार्यत्व क्या चीज है ? यह हम प्रथम बताते है, पश्चात् अनन्तशरणदासजी की बातों का विचार हम करेंगे । आज कल स्वयमाचार्य शब्द का प्र-योग किस अर्थ में होता है–यही देखना होगा । भगवान् श्रीरामानुजा-चार्य श्रीवरवरमुनिस्वामी आदि पूर्वाचार्यों ने ७४ सिहासनाधिपति ८ दि-ग्गज इत्यादि नामों से कुछ पीठाधिपतियों की स्थापना की थी, उन को

सिद्धान्त प्रवर्तन करने, शिष्य करने और ग्रन्थों का उपदेश करने आदि का अधिकार दिया गया था, उन के वंशज स्वयमाचार्य पुरुष कहलाते है, वे अपने ही पिता भ्राता और इन के अभाव में अपने ही कुल के विशिष्ट पुरुषों से पञ्चसस्कार ग्रहण करते और रहस्यग्रन्थ आदि की व्याख्या सुनते है, अन्य कुल व पीठ के पुरुषों से पञ्चसंस्कार आदि नहीं कराते, इसी कारण से वे स्वयमाचार्य पुरुष कहलाते है । जो लोग अन्य कुल के आचार्यों से पञ्चसस्कार आदि ग्रहण करते है वे स्वयमाचार्य पुरुष नही माने जाते । यही आचार्य पुरुष और अनाचार्य पुरुषों में भेद है । पूर्वाचार्य स्थापित पीठाधिपतियो के वशज होना ही स्वयमाचार्यपुरुषत्व का मूल है।

अब हम पुत्र पिता का शिष्य बन उपदेश ग्रहण कर सक्ता है कि नहीं इस का विचार करते है । अनन्तशरणजी ने श्वेतकेतु और उद्दालक का उदाहरण दे यह सिद्ध करना चाहा है कि पुत्र पिता का शिष्य नहीं बन सक्ता, परन्तु यह उदाहरण उन के सिद्धान्त के विरुद्ध पडता है । श्वेतकेतूपाख्यान का अग्रचर्वणमात्र उन्हों ने किया है, पूरा उपाख्यान पढते तो वे इस उदाहरण को कभी नहीं लिखते । हम यहाँ पर उस उपाख्यान को पूरा लिख कर उस उदाहरण से क्या सिद्ध होता है—यह विचार करेंगे ।

छान्दोग्य उपनिषत् के षष्ठ प्रपाठक के प्रारम्भ में ही यह उपाख्यान है । उपाख्यान को पूर्णतया समझने के लिये जितने वाक्यों की आवश्यकता है उतने वाक्यों को यहाँ लिख कर उन का भावार्थ लिखते है ।

> श्वेतकेतुर्हारुणेय आस. तँ ह पितोवाच श्वेतकेतोवस ब्रह्मचर्य न वै सोम्यास्मत्कुलीनोऽननूच्य ब्रह्मबन्धुरिव भवतीति । छा. प्र. ६ ख. १—१.

अरुण का पुत्र—उद्दालक का पुत्र श्वेतकेतु नाम का था, बारह वर्ष का होने पर भी उस ने ब्रह्मचर्य ग्रहण नहीं किया था। पिता उद्दालक ने उस को देख कर कहा कि हे श्वेतकेतु ! किसी योग्य गुरू के पास अध्ययन करने के लिये ब्रह्मचर्यवास करो, हे सोम्य ! हमारे कुल में पैदा होनेवाला कोई भी वेदाध्ययन न करते हुए ब्रह्मबन्धु के समान नहीं रहता। ब्रह्म बन्धु उसे कहते है, जे। स्वय ब्राह्मण न होते हुए ब्राह्मणों को अपना बन्धु बताता हो।

यहाँ पर शङ्करभाष्य मे लिखा है—

" तस्यातः प्रवासोऽनुमीयते पितुः, येन स्वयं गुणवान् सन् पुत्रं नोपनेष्यति । "

अर्थात् पिता के इस वचन से मालूम होता है पिता कहीं बाहर देशान्तर जा रहा था अन्यथा उद्दालक स्वय गुणवान् होते हुए पुत्र का उपनयन क्यों न करते ! इस भाष्य की टीका में आनन्दगिरिजी इस की अवतरणिका यों देते है—

" किमिति पिता स्वयमेवोपनीय पुत्रं नाध्यापयति, तत्राह (तस्येति) अतश्शब्दः स्वगृहविषयः । अनुमानं—कल्पनम् । तत्र कल्पकमाह (येनेति)

पिता ने स्वयं ही उपनयन कर के पुत्र को अध्ययन क्यों नहीं कराया इस शङ्का पर भाष्यकार " तस्य " इत्यादि वाक्य से हेतु बताते है । 'अतः' शब्द अपने घर के अर्थ में है । अनुमान शब्द का अर्थ कल्पना है । " येन " इत्यादि ग्रन्थ में भाष्यकार इस कल्पना का कारण बताते है ।

पिता उद्दालक स्वयं गुणवान् होते हुए पुत्र का उपनयन स्वयं न कर के अन्य गुरु के पास जाने का आदेश कर रहे है, इस से मालूम होता है, पिता उद्दालक पुत्र को ऐसी आज्ञा दे कर घर से कहीं बाहर

देशान्तर चले गये, व देशान्तर जाने को उद्यत थे, अतएव उन्हों ने ऐसी आज्ञा पुत्र को दी।

श्रीरङ्गरामानुज भाष्य में लिखा है—

" अत्र स्वयं गुणवत एव पितुर्गर्भाष्टमाद्युपनयनकालातिक्रमेप्युपने तृत्वाभावे हेतुः प्रवासादिलक्षणात्यन्तानुपपत्तिरिति द्रष्टव्यम्। "

अर्थात्, यहाँ पिता के स्वयं गुणवान् होने पर भी गर्भाष्टमादि उपनयन काल के बीत जान पर भी पुत्र का उपनयन न करने का कारण देशान्तर में प्रवास आदि कोई बलवती अनुपपत्ति होना चाहिये।

श्रीशङ्कराचार्यजी ने, बारह वर्ष की अवस्था तक पुत्र का उपनयन पिता उद्दालक ने स्वयं गुणवान् होते हुए भी क्यों नहीं किया—इस का कारण तो नहीं बताया, किन्तु, पिता ने पुत्र को स्वयं उपनयन न कर के अन्य गुरु के पास जाने का आदेश क्यों किया ? इस का कारण बताया है। पिता उद्दालक कहीं देशान्तर में जाने को उद्यत थे, अतएव उन्हों ने पुत्र श्वेतकेतु को अन्य गुरु के पास जाने की आज्ञा दी, अन्यथा वे स्वयं करते। श्रीरङ्गरामानुजाचार्यजी ने, पिता ने स्वय गुणवान् हो कर भी गर्भाष्टमादिकाल के बीत जाने तक पुत्र को अनुपनीत क्यों रखा ?, इस का कारण बताया है। वे कहते है कि पिता कहीं विदेश में चले गये थे—यही कारण है कि श्वेतकेतु बारह वर्ष तक अनुपनीत रहा, पिता घर में होते तो विहितकाल में ही पुत्र का उपनयन स्वयं पिता ने किया होता। पीछे भी स्वय न करने का यही कारण है।

" स ह द्वादशवर्ष उपेत्य चतुर्विंशति वर्ष. सर्वान्वेदानधीत्य महामना अनूचानमानी स्तब्ध एयाय तँ ह पितोवाच। " छा. प्र. ६ ख. १—२

वह (श्वेतकेतु) जब बारह वर्ष का था तब गुरु के पास पहुँचा, चौबीस

वर्ष की अवस्था तक गुरुकुल में रह कर समस्त वेदों का अध्ययन उस ने किया, वह समझने लगा कि हमारे समान कोई भी नहीं है, अपने को समस्त वेदों का अध्येता मान, स्तब्ध अर्थात् सर्वज्ञ के समान सब को तुच्छ समझने लगा, ऐसे अभिमान के साथ वह घर लौटा। पिता ने पुत्र को जब ऐसा अभिमानी देखा तब पुत्र के उस अभिमान को दूर कर विनयवान् बनाने की इच्छा से और सद्धर्म को लोक में प्रचारित करने के अभिप्राय से पुत्र के प्रति कहा।

"श्वेतकेतो यन्नु सोम्येदं महामना अनूचानमानी स्तब्धोस्युत तमादेशमप्राक्ष्यो येना श्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति? कथन्नु भगवत्स आदेशो भवतीति।"

हे श्वेतकेतो! यह क्या मैं देख रहा हूँ, तुम जो महामना अनूचानमानी स्तब्ध बने हुए हो इस का कारण क्या है? तुम ने कौनसा महत्त्व प्राप्त किया है, जिस से ऐसा बने हो? क्या तुम ने अपने गुरु से उस आदेश को प्रश्नपूर्वक जाना? जिस के श्रवण से अन्य सभी वस्तु श्रुत हो जाते है, जिस के मनन से अन्य सभी मनन हो जाते है, जिस के विज्ञान से अन्य सभी विज्ञात हो जाते है? पिता के इस अद्भुत वचन को सुन पुत्र श्वेतकेतु ने पिता से कहा—भगवन्! वह आदेश ऐसा कैसा होता है? पिता ने पुत्र से कहा था कि एक आदेश नामक वस्तु के ज्ञान से समस्त अन्य वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है. यह बात श्वेतकेतु के समझ में नहीं आई, वह विचारने लगा कि एक वस्तु के ज्ञान से अन्य वस्तुओं का ज्ञान कैसे हो सक्ता है? यह असम्भव बात है, अतएव उस ने पिता से प्रश्न किया कि वह कैसा आदेश है। पिता पुत्र को समझाने के लिये कहते हैं—

"यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्।

यथा सोम्यैकेन लोहमणिना सर्वं लोहमय विज्ञात स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेय लोहमित्येव सत्यम्।
यथा सोम्यैकेन नखनिकृन्तनेन सर्वं कार्ष्णायसं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेय कृष्णायसमित्येव सत्यम्—एवँ सोम्य स आदेशो भवतीति ॥ छा प्र. ६. खं. १—४, ५, ६ ॥

जैसे लोक में एक मृत्पिण्ड के ज्ञान से उस मृत्पिण्ड के विकारभूत उस से पैदा हुए समस्त मृण्मय पदार्थों का ज्ञान हो जाता है, जैसे एक सुवर्ण पिण्ड के जान लेने से उस के विकारभूत उस से पैदा हुए समस्त सुवर्णमय पदार्थों का ज्ञान हो जाता है, और जैसे एक अयःपिण्ड के जान लेने से उस के विकारभूत उस से पैदा हुए समस्त अयोमय पदार्थों का ज्ञान हो जाता है ऐसा ही, हे सोम्य! वह आदेश भी है।

पिता ने जब अनेक दृष्टान्तों से एक वस्तु के ज्ञान से अन्य वस्तुओं का ज्ञान होना सम्भव बताया, तब पुत्र श्वेतकेतु ने पिता से कहा—

"नवै नूनं भगवन्तस्त एतदवेदिषुर्यद्ध्येतदवेदिष्यन् कथं मे नावक्ष्यन्निति, भगवांस्त्वेवमेतद्ब्रवीत्विति, तथा सोम्येति हो वाच॥"
छां. प्र. ६. ख. १—७

हमारे पूजनीय वे गुरु अवश्य ही आप के बताये उस वस्तु को नहीं जानते थे, यदि वे जानते होते तो मुझे क्यों न बताते, अतएव पूजनीय आप ही मुझे वह वस्तु बतावें, जिस के ज्ञान से सर्वज्ञता प्राप्त हो जाती है। पुत्र की इस प्रार्थना को सुन पिता उद्दालक ने कहा, हे सोम्य! अच्छा, मै वैसा ही करूँगा, तुझे वह वस्तु बताऊँगा।

इस के आगे सद्विद्या का उपदेश पिता पुत्र को करते हैं।

इस उपाख्यान से यह ज्ञात हो जायगा कि पुत्र श्वेतकेतु को पिता उद्दालक ने ब्रह्मविद्या का उपदेश स्वयं ही किया है। गुर्वन्तर के पास

केवल वेदाध्ययनमात्र श्वेतकेतु ने किया था । वह भी कारणवश से हुआ । पिता उद्दालक पुत्र के विहित उपनयन काल में देशान्तर गत थे, जब वे लौट कर घर आये तब पुत्र बारह वर्ष का हो गया था, पिता ने पुत्र को अध्ययन करने के बाबत जब कटुवचन कहा, तब वह लज्जित हो कर वा क्रोधित हो कर घर छोड कर चला गया किसी गुरु के पास पहुँच कर पूर्ण वेदाध्ययन उस ने किया, जब घर लौटा तब पूरा अभिमानी बना हुआ था । पिता ने जब उस के अभिमान को छुडाने के लिये उस से ब्रह्मविद्या का प्रश्न किया तो श्वेतकेतु कह बैठा कि वह हमारे गुरु यह विद्या जानते ही नहीं थे, आप ही उपदेश दें । तब पिता उद्दालक ने श्वेतकेतु पुत्र को ब्रह्मविद्या का उपदेश किया । इस प्रकार अनन्तशरणजी जिस उपाख्यान से यह साधन करना चाहते थे कि पिता से पुत्र को उपदेश न लेना चाहिये, उसी उपाख्यान से यह सिद्ध हुआ कि पिता से पुत्र ब्रह्मविद्या का उपदेश ले सक्ते है । उपनिषदों में ऐसे दृष्टान्त कई है, जिन से पिता से पुत्र का उपदेश लेना सिद्ध होता है । उन में से दो एक हम यहाँ देते है ।

" भृगुर्वै वारुणिः, वरुणं पितरमुपससार , अधीहि भगवोब्रह्मेति, तस्मा एतत्प्रोवाच, अन्नं प्राण चक्षुश्श्रोत्र मनोवाचमिति, तंहोवाच । यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते । येन जातानि जीवन्ति । यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति । तद्विजिज्ञासस्व । तद्ब्रह्मेति । "

इत्यादि तैत्तिरीय भृगुवल्ली में वरुणपुत्र भृगु का अपने पिता वरुण से ब्रह्मविद्याप्राप्त करने का वर्णन है ।

एवं अथर्वण महानारायणोपनिषत् में—

" प्राजापत्यो हारुणिस्सुपर्णेय प्रजापति पितरमुपससार किम्भगवन्त परमं वदन्तीति तस्मै प्रोवाच "

इत्यादि न्यासविद्याप्रकरण में अरुणपुत्र को अपने पिता से न्यासविद्या प्राप्त होने की आख्यायिका है। अष्टोत्तरशत उपनिषदों में ऐसे कई उदाहरण मिल सक्ते है। यह तो हुई वैदिक दृष्टान्तों की बात। अब हम पूर्वाचार्यों की बात लिखते है।

तेङ्गलै सम्प्रदाय के आचार्य परम्परा में श्रीलोकाचार्यस्वामीजी और उन के भ्राता का दृष्टान्त पर्याप्त होगा। श्रीलोकाचार्यस्वामीजी श्रीकृष्णपादस्वामी के पुत्र थे, और उन्ही के शिष्य भी थे। गुरुपरम्परा में—

" श्रीकृष्णपादपादाब्जे नमामि शिरसा सदा।
यत्प्रसादप्रभावेन सर्वसिद्धिरभून्मम ॥ "

यह श्रीकृष्णपादस्वामीजी की स्तुति है। इस के बाद का श्लोक है—

" लोकाचार्याय गुरवे कृष्णपादस्य सूनवे।
संसारभोगि सन्दष्ट जीवजीवातवे नमः ॥ "

यह लोकाचार्यस्वामीजी की स्तुति है। इस में लोकाचार्य को कृष्णपाद का सूनु–पुत्र बताया है। श्रीभट्टरस्वामीजी ने अपने पिता श्रीकूरेश से भी मन्त्रोपदेश लिया था, यह बात भगवद्विषय में शतक १, दशक २, गाथा १० की व्याख्या में उल्लिखित है। इस वक्त वडकलै सम्प्रदाय के लोग श्रीवेदान्तदेशिक को प्रधान स्वसम्प्रदाय प्रवर्तक मानते है, उन के पुत्र वरदाचार्यस्वामीजी वडकलै सम्प्रदाय के लिये दृष्टान्त है। श्रीवरदाचार्यस्वामीजी श्रीवेदान्तदेशिक के पुत्र भी थे और शिष्य भी।

पिता का शिष्य पुत्र हो सक्ता है—इस बात के समर्थन करने के लिये अब हमें अधिक लिखने की आवश्यकता नही है। गालियों का जवाब हमें देना नही है। अतएव हम आगे बढते है।

जालियों की पोल पेरग्राफ २.

(२) तोतादि वाले सन्यासी से ही मुक्ति मानते हैं, यह दूसरा आक्षेप है। जो शास्त्र कहता है वही तोतादि वाले मानते हैं। देखिये " न कर्मणा न प्रजया न धनेन त्यागेनैकेनामृत त्वमानशुः " इत्यादि सहस्रों श्रुति केवल सन्यास से ही मुक्ति और " कर्मणामृत्यु मृषयो। निषेदु प्रजावन्तो द्रविणमीदमानाः " इत्यादि अनेकों श्रुतियां गृहस्थ के सम्बन्ध से पुन. पुनः घोर संसार प्राप्ति प्रतिवादन करती हैं। गायत्री मन्त्र को भी निर्लज्जता के साथ खण्डन करने वाले आप सदृश को छोड समस्त वैदिकाभिमानी इसी सिद्धान्त पर अटल हैं। वैदिक रामानुजियों का परम्परा प्राप्त अनुष्ठान भी उसी प्रकार ही है। देखिये श्रीशैलपूर्ण आदि श्रीभाष्यकार के पांचों आचार्यों ने अपने अपने सन्तानों को रामानुज स्वामी सन्यासी के शिष्य कराये थे ; (ख) नाथ मुनि के वंश वाले भी श्रीतोतादि स्वामी के शिष्य होगये और होते हैं। (ग) वरदनारायण गुरु, देवराज गुरु, परवस्तु भट्ट और प्रतिवादिभयङ्कर अन्ना आदि स्वयमाचार्य होते हुए भी वरवरमुनि के शिष्य होगये इस प्रकार आप के मूल पुरुषों का अनुष्ठान आप को यह नहीं सिखलाता है कि सन्यासी के सम्बन्ध के बिना मुक्ति नहीं होती है। (घ) भगवन् स्वामी की तिरुमाली में भी सन्यासी से ही शिष्य होने की परम्परा है। वर्तमान गोवर्धन रङ्गाचारी भी इस लिये सन्यासी से शिष्य भये हैं। गादी अनन्ताचारी भी सन्यास से ही मुक्ति मान कर ही अपने चेलों को सन्यासी बनाने की प्रथा चला रहे हैं। यद्यपि शास्त्र मर्यादा से गृहस्थ न सन्यासी के गुरू बन सकते हैं, और न गृहस्थ से कषाय वस्त्र लेने से वह सन्यासी हो सकता है प्रत्युत दोनों पतित माने गये हैं। यह दूसरी बात है।

परीक्षा—रामकवलदास का कहना था कि " तोताद्रीवाले वैष्णव सन्न्यासी से ही मुक्ति मानते हैं। " पोलवाले इस बात को स्वीकार करते हुए इस को शास्त्र आदि से सिद्ध करने का प्रयत्न पोल में करते हैं। परन्तु " आम्रान्पृष्टः कोविदारानाचष्टे " न्याय पोलवाले के लेख में स्पष्ट होता है, क्यों कि " सन्न्यासी से मुक्ति " इस बात का साधन करने के बदले में सन्न्यास से मुक्ति—का साधन करने लगे है। सन्न्यासी से ही मुक्ति—इस का अर्थ यह होता है कि गुरु स-

न्न्यासी होने से ही शिष्य को मुक्ति मिलेगी, सन्न्यास से मुक्ति—का अर्थ होगा सन्न्यासाश्रम लेने से ही मुक्ति। अस्तु, पोलवाले ने जिस बात को सिद्ध करने का यत्न किया है उसी की परीक्षा हम यहाँ करते है।

सन्न्यासाश्रम से ही मुक्ति मिलती है यह किसी भी आचार्य को अभिमत नहीं है। सन्न्यास से ही मुक्ति की प्राप्ति शास्त्रसिद्ध भी नहीं है। शास्त्र तो ज्ञान से मुक्ति की प्राप्ति बतलाता है। " तमेव विद्वान-मृत इह भवति नान्य पन्था विद्यतेयनाय " " तमेव विदित्वाऽतिमृत्युम-ति " इत्यादि शास्त्रों में स्पष्ट ही ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति बतलायी गयी है, ज्ञान भिन्न उपाय का अभाव स्पष्ट बतलाया गया है। भक्ति और प्रपत्ति भी ज्ञानरूप होने से ही मोक्षसाधन माने गये है। उपासना भी ज्ञानरूप है। ध्यान भी ज्ञानरूप है। ध्यान उपासन वदन और भक्ति सभी एक ही वस्तु है, ऐसा भगवान् रामानुज ने सिद्ध किया है। भग-वद्गीता शास्त्र में " भक्त्यात्वनन्ययाशक्य. । " इत्यादि वचनों में स्पष्ट ही भक्ति को भगवत्प्राप्ति का साधन बताया है। ज्ञान ही मोक्षसाधन है—इस बात को सिद्ध करने के लिये हमें विशेष लिखने की आवश्य-कता नहीं यह सर्व वैदिकाभ्युपगत विषय है।

" न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशु. । " यह उस मन्त्र का शुद्धपाठ है। यहाँ पर त्याग—नाम सन्न्यासाश्रम का नहीं है। शरणागति का नाम त्याग है। यह वाक्य तैत्तिरीय अम्भस्यपारे इत्यादि षष्ठ प्रश्न में दसवें अनुवाक में है, इस मन्त्र का रङ्गरामानुजभाष्य हम नीचे लिखते है, जिस से स्पष्ट हो जायगा कि त्याग क्या चीज है।

" न कर्मणेति। यदमृतत्व यतय प्राप्नुवन्ति, यच्चामृतत्व नाकस्य—भगवल्लोकस्य उपरि परमव्योमनि निहित विराजते, तदमृतत्व कर्म

प्रजाधनैर्न प्राप्यम्, अपितु 'सन्न्यासस्त्याग इत्युक्तश्शरणागति-रित्यपि' इत्युक्त भगवच्चरणारविन्दशरणवरणलक्षण त्यागेनैव, एके—कतिचित्प्राप्ता इत्यर्थः। भक्तिनिष्ठानामप्यङ्गतया प्रपदन-स्यापेक्षितत्वात, प्रपन्नाना च प्रधानतयापेक्षितत्वात्, 'तस्य च वशीकरण तच्छरणागतिरेव," इति भाषणाच्च यथोक्त एवार्थ।"

इस का भावार्थ यह है—जिस अमृतत्व को यति लोग प्राप्त होते है और जो अमृतत्व नाक अर्थात् भगवल्लोक के ऊपर परमव्योम में स्थापित हो कर प्रकाशमान है, वह अमृतत्व कर्म प्रजा और धन से प्राप्त नहीं हो सक्ता, किन्तु 'सन्न्यासस्त्याग इत्युक्तश्शरणागतिरित्यपि" इस वचन में कहे हुए भगवच्चरणारविन्दशरणागतिरूप त्याग से ही कुछ लोगों को मिला है। भक्तिनिष्ठों को भी अङ्गरूप से शरणागति अपेक्षित है, प्रपन्नों को प्रधानरूप से अपेक्षित है, और भाष्यकार ने 'तस्य च वशी-करण तच्छरणागतिरेव' ऐसा भाष्य में लिखा भी है, इन कारणों से ऊपर कहा हुआ अर्थ ही ठीक है।

भाष्यकार का कहना है कि इस वाक्य में जो त्याग शब्द आया है उस का अर्थ शरणागति है।

कूरनारायण भाष्य में त्यागशब्द की व्याख्या यों की गयी है—"त्यागेन— 'सन्न्यासस्त्याग.' इत्युक्तेन त्यागशब्दवा—च्येन फलसङ्गकर्तृत्व भोक्तृत्वादित्यागेन।" अर्थात् 'सन्न्यासस्त्याग' इस वचन में कहे हुए त्यागशब्दवाच्य फलसङ्गकर्तृत्व भोक्तृत्व आदि के त्याग से।

भट्टभास्करभाष्य में त्यागशब्द की व्याख्या यों की गई है-"त्या-गेन-फलत्यागेनैव," अर्थात् कर्मफलत्याग से ही।

ऊपर के विवरण से यह स्पष्ट हो गया कि " न कर्मणा " इत्यादि वेदवाक्य सन्न्यासाश्रम से मोक्षप्राप्ति का साधक नहीं है ।

सन्न्यास से ही मुक्ति मिलती है—इस बात को सिद्ध करने के लिये पोल के लेखक ने —" कर्मणामृत्युमृषयो निषेदु: प्रजावन्तो द्रविणमीहमानाः " इस वेद को प्रमाणतया उद्धृत किया है । इस में सन्न्यासाश्रम का नाम भी नहीं है । इस में तो इतना ही कहा गया है कि जो लोग पुत्रकामना और द्रव्यकामना से कर्म करते थे वे मृत्यु को प्राप्त हुए । इस में गृहस्थ के सम्बन्ध से पुनःपुनः घोरसंसार प्राप्ति का होना किस शब्द से प्रतिपादित होता है ? यह हम नहीं जान सके । 'प्रजावन्तः द्रविणमीहमानाः ऋषयः कर्मणा मृत्युं निषेदुः,' इस प्रकार इस वाक्य के पदों का अन्वय करने पर यही अर्थ निकलता है कि प्रजा—अर्थात् सन्तानवान् द्रव्य की इच्छा करनेवाले ऋषिलोग कर्म से मृत्यु को प्राप्त हुए । यहाँ पर कर्म से मृत्यु की प्राप्ति बतायी गयी है, अतएव वह कर्म काम्य कर्म होना चाहिये । भगवद्गीता शास्त्र में काम्य कर्म को बन्धक और निष्काम कर्म को बन्धनाशक बताया गया है । गृहस्थ के सम्बन्ध से संसारप्राप्ति होने की बात इस श्रुतिवाक्य के किसी भी पद से प्रतिपादित नहीं होती ।

पोल के लेखक गृहस्थों के सम्बन्ध से संसार की पुन:पुनः प्राप्ति होना बता रहे हैं, यह उक्ति कृत्या के समान उन्हीं के ऊपर आपत्ति लानेवाली है । शायद वे नहीं जानते कि प्रथम तोताद्रिस्वामी भी गृहस्थ के ही शिष्य थे । वरवरमुनिस्वामीजी जब गृहस्थ थे तभी तोताद्रिस्वामी कुरुकापुरी में उन के शिष्य हो गये थे । वरवरमुनिस्वामीजी ने सन्न्यासाश्रम पश्चात् ग्रहण किया था । तोताद्रिस्वामी गृहस्थाश्रम में रहते हुए वरवरमुनिस्वामीजी के शिष्य हो चुके थे । यतीन्द्रप्रवणप्रभाव आदि

ग्रन्थों में यह बात स्पष्ट लिखी हुई है । हम यहाँ पर उन इतिहास ग्रन्थों के लेखों को उद्धृत करते है ।

यतीन्द्रप्रवण प्रभाव सन् १८९१ में मदरास के मेमोरियल् प्रेस में छपी हुई पुस्तक पृष्ठ ३२ में लिखा है—

" अनन्तरम् नायनारुम् आचार्यन् नियमित्तरुळिनपडिये तिरुवाय्मोळि मुदलान अरुळिच्चेयल्हळै सव्याख्यानमाह अनुसन्धित्तुक्कोण्डु,

' ततस्तु मूलभूतेषु तेषु दिव्येषु योगिषु ।
ववृधे वर्धयन् भक्तिं वकुळाभरणादिषु ॥
तथा तत्तत्प्रबन्धार्थसम्प्रदायप्रवर्तकान् ।
अयमाद्रियते श्रीमानाचार्यानादिमानपि ॥ '

एन्गिरपडिये विलक्षणप्रमाणप्रमेयप्रमाताक्कळिडात्तिले विशेषप्रतिपत्तियुडैयराय्, तिरुनगरियिले दर्शनत्तै वळर्त्तुक्कोण्डु पोरुहिर नल्लडिक्कालत्तिले ' श्रीसौम्यनामातृमुनीश्वरस्य प्रसादसम्पत्प्रथमास्पदाय । ' एन्गिरपडिये अळहियवरदर् सेनैमुदलियार् तोडक्कमानवर्हळ् इवर् वैभवत्तैक्केट्टुत्तिरुवडिहळिले आश्रयित्तार्हळ् । अवर्हळिल् अळहिय वरदर् अप्पोदे सन्न्यसित्तु इरामानुजजीयरेन्नुम् तिरुनामत्तैयुडैयराय् नायनारुक्कु ' निळलुमडितारुमानोम् ' एन्नुम्पडि सदा पादरेखासमराय् नायनारै नित्यसेवै पण्णिक्कोण्डु पोन्दार् । "

अर्थात् पश्चात् नायनार् भी (वरवरमुनिस्वामीजी का गृहस्थाश्रम का नाम अळहियमणवाळप्पेरुमाळ् नायनार् था, उस का यह एकदेश है) आचार्याज्ञानुसार तिरुवाय्मोळि आदि दिव्यसूक्तियों का उन के व्याख्यानों के साथ अनुसन्धान करते हुए ' ततस्तु मूलभूतेषु ' इत्यादि श्लोकोक्तरीति से विलक्षण प्रमाण प्रमेय और प्रमाताओं में विशेष प्रतिपत्ति युक्त हो तिरुनगरी में दर्शन की अभिवृद्धि करते हुए विराजमान थे,

ऐसे मङ्गलमय काल में ' श्रीसोम्यजामातृ ' इत्यादि श्लोकोक्त प्रकार से अळहियवरद सेनैमुदलियार् आदि लोग इन के वैभव को सुन कर इन के चरणों मे आश्रित हुए। उन मे से अळहियवरद उसी वक्त सन्न्यास ले रामानुजजीयर नाम धारण कर नायनार के पादरेखा के समान हो नायनार् की नित्यसेवा करते रहे।

अळहियवरदर् यह नाम प्रथम तोताद्रिस्वामी का गृहस्थाश्रम का नाम है। सन्न्यास लेने के बाद इन का नाम रामानुजजीयर पडा। श्रीवरवरमुनिस्वामी जब गृहस्थाश्रम में कुरुका पुरी में रहते थे तभी तोताद्रिस्वामी इन के शिष्य हो गये थे। अब तक वरवरमुनिस्वामी श्रीरङ्गजी नहीं गये थे। इस के बाद वरवरमुनिस्वामी श्रीरङ्गजी गये, कुछ दिन वहाँ रह कर काञ्ची गये, वहाँ पर श्रीभाष्य कालक्षेप किडाम्बिनायनार् के पास करने के पश्चात् श्रीरङ्गजी वापस आये, उस के भी कुछ दिन बाद वरवरमुनिस्वामीजी ने सन्न्यासाश्रम ग्रहण किया। यह यतीन्द्र — प्रवणप्रभाव ग्रन्थोक्त कथा प्रक्रिया है।

पुरावृत्तप्रकाश (पळनडै—विळक्कम्) नामक ग्रन्थों में भी यही बात लिखी है। १८९१ सन् में स्टारआफ इण्डिया प्रेस, मदरास में मुद्रित द्राविड लिपिमय पळनडै विळक्कम् पृष्ठ सख्या ६६ में लिखा है—

" पिन्बु यतीन्द्रप्रवणर् आचार्यरान तिरुवाय्मोळिप्पिळैयिनुडैय चरमकैङ्कर्यत्तै नन्राहनडप्पित्तु तिरुनगरियिले दर्शनत्तै वळर्त्तुक्कोण्डिरुक्किर कालत्तिले, अळहियवरदर सेनैमुदलियार् अण्णरतुडक्कमानवर्हळ् इवर् वैभवत्तैक्केट्टु वन्दिवर् तिरुवडिहळिले याश्रयित्तार्हळ्; अवर्हळिल् अळहियवरदर् कडुह सन्न्यासाश्रमत्तैयडैन्दु रामानुजजीयरॆन्रु तिरुनामत्तैयुडैयराय् यतीन्द्रप्रवणरुक्कु पादरेखैयाय् पिरियामल् अडिमै शेय्दु कोण्डिरुन्दार् "

अर्थात् पश्चात् यतीन्द्रप्रवण आचार्य—तिरुवाय्मोळिप्पिळ्ळै का चरम कैङ्कर्य अच्छी तरह करवा कर तिरुनगरी में दर्शन की अभिवृद्धि करते हुए विराजमान थे, उस वक्त अळहियवरदर और सेनैमुदलियार अण्णर् आदि इन के वैभव को सुन कर आये और इन के चरणों में आश्रित हुए। उन में से अळहियवरद शीघ्र ही सन्न्यासाश्रम ले रामानुजजीयर नामधारण कर यतीन्द्रप्रवण के पादरेखावत् साथ रहते हुए कैङ्कर्य करते रहे।

यतीन्द्रप्रवणप्रभाव और पुरावृत्तप्रकाश दोनों ग्रन्थों में कथाभाग एक ही रूप का है, कुछ भी भेद नहीं है। सन्न्यास लेने के बाद जिन का नाम—वानमामलै जीयर पडा उन का ही जब वे गृहस्थाश्रमी थे अळहियवरदर नाम था, यह बात "पेरियतिरुमुडि अडैवु" नामक ग्रन्थ में स्पष्ट लिखा है। सन् १८९८ मे मदरास के श्रीनिकेतन प्रेस में छपी हुई तेलुगु लिपि की "पेरियतिरुमुडि अडैवु" पुस्तक के १०३ पृष्ठ में यो लिखा है—

"तिरुनामङ्गळ् पूर्वाश्रमत्तिल् अळहियवरदन्, पिन्बु वानमामलै जीयर"

पोलवाले श्रीप्रतिवादिभयङ्कराचार्य को गायत्रीमन्त्र के खण्डन करनेवाले बताते है। पाठकों को शङ्का होगी कि यह क्या बात है? अतएव हम यहाँ उस विषय को संक्षेप में लिख देना उचित समझते है। ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य, तीन जाति के लोग द्विजाति कहलाते है, इन को उपनयन संस्कार होता है। इन तीनो जातियो को भिन्नभिन्न अवस्थाओं में भिन्नभिन्न छन्दवाले मन्त्र से उपनयन करने का विधान शास्त्र मे है। ब्राह्मणो का आठवे वर्ष मे आठ अक्षरोवाले गायत्री छन्द के मन्त्र से उपनयन विहित है, क्षत्रियो का ग्यारहवे वर्ष मे ग्यारह अक्षरवाले त्रिष्टुप्

छन्द के मन्त्र से उपनयन विहित है, वैश्यों का बारहवें वर्ष में बारह अक्षरोंवाले जगतीछन्द के मन्त्र से उपनयन विहित है । अर्थात् ब्राह्मणों के लिये गायत्रीछन्द, क्षत्रियों के लिये त्रिष्टुप्छन्द, और वैश्यों के लिये जगतीच्छन्द शास्त्रविहित है । श्रीकाञ्ची प्रतिवादिभयङ्कराचार्य का कहना है कि वैश्यों का उपनयन जगतीच्छन्दवाले मन्त्र से होना चाहिये, गायत्रीछन्दवाले मन्त्र से नहीं। बस, इसी लिये पोलवाले श्रीप्रतिवादिभयङ्कराचार्य को गायत्री का खण्डन करनेवाले बताते है । इतना कहना ही यदि खण्डन करना है तो सभी सब के खण्डन करनेवाले हो जायँगे । किसी सामवेदी को कोई कहे कि तुम को सामवेदीय मन्त्रों से सब कर्म करना चाहिये, यजुर्वेदीय मन्त्रों से नही, तो वह यजुर्वेद का खण्डन करनेवाला हो जावेगा ।

यहाँ पर हम यह बता देना उचित समझते है कि श्रीवैष्णवसम्प्रदायावलम्बी मोक्ष का साधन किस को मानते है ।

" भक्त्या परमया वापि प्रपत्त्या वा महामुने ।
प्राप्योऽहं नान्यथा प्राप्यो वर्षलक्षशतैरपि ॥ "

इत्यादि शास्त्रानुसार कर्मज्ञानाङ्गक भक्ति और प्रपत्ति यही दो मोक्षसाधन माने गये है ।

पोलवाले, सन्न्यासी गुरु के सम्बन्ध से ही मुक्ति मिलती है, गृहस्थ गुरु के सम्बन्ध से नही – इस बात को पूर्वाचार्यों के अनुष्ठान से सिद्ध करने के लिये कुछ दृष्टान्त देते है । परन्तु खास श्रीरामानुजस्वामीजी के अनुष्ठान को पोलवाले भूल गये, या छिपा गये । भगवान् श्रीरामानुजाचार्य श्रीमहापूर्णस्वामीजी के शिष्य थे, महापूर्णस्वामीजी गृहस्थ थे, यह एक दृष्टान्त ही पोलवाले के सिद्धान्त को दूरापास्त करने के लिये बहुत है । यदि श्रीरामानुजस्वामीजी को ही गृहस्थ के शिष्य

होने के कारण मोक्ष नहीं मिला तो हम लोगों को वैसा मोक्ष न भी मिले तो कोई हानि नहीं । पोलवाले के सिद्धान्त की रक्षा के लिये अब श्रीरामानुजस्वामीजी एक नया अवतार धारण कर के सन्न्यासी के शिष्य भले ही बनें तो बनें, उस अवतार में तो वे गृहस्थ के ही शिष्य बने रहे थे । लोकाचार्यस्वामी अपने ही पिता श्रीकृष्णपादस्वामीजी के शिष्य थे, जो कि गृहस्थ थे, श्रीशठकोपस्वामी और श्रीनाथमुनिस्वामी सन्न्यासी के शिष्य नहीं थे । वेदान्ति स्वामी पराशरभट्टस्वामीजी के शिष्य थे, श्रीपराशरभट्टार्य सन्न्यासी नहीं थे । श्रीनाथमुनिस्वामी भी गृहस्थ ही थे उन के अवतारस्थल और अन्यत्र भी दिव्यदेशों में श्रीनाथमुनिस्वामी की मूर्ति गृहस्थ के रूप में ही है, दर्शन करने से स्पष्ट मालूम हो जायगा कि श्रीनाथमुनिस्वामी गृहस्थ थे । उन के शिष्य पुण्डरीकाक्ष स्वामी गृहस्थ थे, उन के शिष्य श्रीराम मिश्र गृहस्थ थे, श्रीयामुनाचार्यस्वामी गृहस्थ-श्रीराममिश्र स्वामी के शिष्य थे, यह श्रीरामानुज स्वामी के पूर्व के आचार्यों की बात हुई । पश्चात् के आचार्यों की बात भी लिखते है। श्रीपराशरभट्टस्वामी सन्न्यासी नहीं थे, उन के शिष्य हुए वेदान्तिस्वामी, उन के शिष्य कलिवैरिदासस्वामी गृहस्थ थे उन के शिष्य श्रीकृष्णपादस्वामी गृहस्थ थे, उन के शिष्य श्रीलोकाचार्यस्वामीजी सन्न्यासी नहीं थे, उन के शिष्य श्रीशैलनाथ स्वामी गृहस्थ थे, उन के शिष्य हुए श्रीवरवरमुनिस्वामी। (वडहले सम्प्रदाय में) श्रीवेदान्ताचार्य स्वामी गृहस्थ थे और गृहस्थ के शिष्य थे, उन ही वेदान्ताचार्य के शिष्य हुए परकालस्वामी, जो सन्न्यासी है ।

ऊपर हम ने यह बता दिया कि श्रीरामानुज सम्प्रदाय की गुरु-परम्परा में कई आचार्य स्वयं सन्न्यासी होते हुए भी गृहस्थ के शिष्य थे । यह हम मानते है कि कुछ आचार्य सन्न्यासी के भी शिष्य थे । हम यह कब कहते है कि सन्न्यासी का शिष्य होना पाप है । अत

एव श्रीशैलपूर्ण आदि आचार्यों के पुत्र श्रीरामानुजस्वामीजी के शिष्य बनाये गये तो इस में कौनसी आपत्ति है। श्रीशैलपूर्ण के सभी पुत्र श्रीरामानुजस्वामीजी के शिष्य बनाये गये थे, इस का कोई प्रमाण नहीं है।

यदि हम यह कहें कि श्रीवैष्णव सम्प्रदाय के मुख्य मुख्य सन्न्यासी आचार्य जितने हुए वे सभी गृहस्थो के ही शिष्य थे तो इस में कोई अत्युक्ति नहीं होगी। श्रीयामुनाचार्य सर्वप्रथम सन्न्यासाश्रमी आचार्य थे, वे गृहस्थ श्रीराममिश्र स्वामीजी के शिष्य थे, भगवान् श्रीरामानुजाचार्य गृहस्थ महापूर्णस्वामीजी के शिष्य थे। श्रीवेदान्तिस्वामी श्रीपराशरभट्टारक के शिष्य थे, श्रीवरवरमुनिस्वामी गृहस्थ श्रीशैलनाथस्वामीजी के शिष्य थे। श्रीब्रह्मतन्त्र परकाल जीयर स्वामी गृहस्थ श्रीवेदान्ताचार्यस्वामीजी के शिष्य थे।

(ख) श्रीनाथमुनिस्वामीजी के वर्तमान कोई वंशज श्रीतोताद्रिस्वामी के शिष्य बना लिये गये हों तो इस से क्या सिद्ध हो सक्ता है? नानाविध प्रलोभन दिखा कर श्रीतोताद्रिस्वामी के शिष्य बनाने की प्रथा इन लोगों ने चला रखी है, जैसे क्रिश्चियन मिशनरी लोग हिन्दुओ को क्रिश्चियन बनाते हैं।

(ग) अण्णन् स्वामी के यहाँ सन्न्यासी से ही सब शिष्य बनते आये हो ऐसी बात तो है नहीं, यदि ऐसा ही नियम वहाँ माना गया हो तो आज तक के उन के परम्परा में सभी सन्न्यासी के शिष्य होना चाहिये। ऐसी बात तो नहीं है। एक घटना शायद हुई है। पुत्र छोटी अवस्था में था. पिता का अचिन्तितरूप से वैकुण्ठवास हो गया था. उस बालक पुत्र को पिता से उपदेश मिला नहीं था, तब यह प्रश्न उठा कि वह किस का शिष्य हो, भाई बन्धुओं के शिष्य बनने मे पर-

म्परा का सिलसिला टूट जाता था और जिन के शिष्य बने उन्ही की परम्परा चलानी पडती थी । इन आपत्तियों से छूटने के लिये उन्ही के पिता के शिष्य एक व्यक्ति को सन्न्यास दिला कर उन का शिष्य वह बालक बनाया गया, सन्न्यास दिलाने का यह कारण था कि उन के वैकुण्ठवास हो जाने पर गुरुपुत्र आदि को मान्यता देने का झगडा न रहने पावे. अन्यथा गुरु के वैकुण्ठवास होने पर भी गुरुपुत्र आदि को गुरु के समान मान्यता देनी पडती । इस आपत्ति से बचने के लिये ही वह उपाय किया था । वर्तमान गोवर्धन रङ्गाचार्य स्वामीजी की बात भी इसी प्रकार की है । इन के बाल्यावस्था में ही पिताजी के वैकुण्ठवास हो जाने के कारण ये अपने पिताजी से उपदेश ले नहीं सके । अतएव इन को किसी अन्य पुरुष से उपदेश लेना था। इन का कुल स्वयमाचार्य पुरुषों का नहीं है. सभी अन्य आचार्यों के शिष्य है । अतएव कन्दाडै आचार्यों के किसी शिष्य को सन्न्यासी बना कर उन से इन को उपदेश दिलाया गया । इन दोनो केसों में उन लोगों ने उन को सन्न्यास दिलाने से क्या लाभ शोचा यह वही जाने । हमें इस से कोई सम्बन्ध नहीं । कन्दाडै अण्णन् के वंश में एक व्यक्ति सन्न्यासी से समाश्रित हुआ इस से यह सिद्धान्त तो निकलता ही नहीं कि सन्न्यासी के शिष्य बनने से ही मुक्ति मिलेगी । ऐसा ही हो तो उस वंश के सभी लोगों को सन्न्यासी के शिष्य बनना चाहिये था ।

श्रीप्रतिवादिभयङ्कराचार्य श्रीमदनन्ताचार्यस्वामीजी महाराज भी सन्न्यास से ही मुक्ति मानते है यह कल्पना अत्यन्त ही असङ्गत है । उन्हों ने एक शिष्य को सन्न्यासी बनाया तो इस से यह बात सिद्ध नहीं हो सकती । यदि उन का यही अभिप्राय है तो स्वय उन को सन्न्यास लेना चाहिये था । स्वय तो सन्न्यासी बने नहीं. एक शिष्य को

सन्न्यासी बनाया—इस का कारण सन्न्यास से मुक्ति मानना नहीं हो सक्ता ।

पोलवाले लिखते है—" यद्यपि शास्त्रमर्यादा से गृहस्थ न सन्न्यासी को गुरु बना सक्ते है "। मालूम होता है, वे इस वाक्य के लिखते वक्त अपने सिद्धान्त को भूल गये है । उन का सिद्धान्त तो यह है कि सन्न्यासी के शिष्य बनने से ही मुक्ति मिलती है यदि गृहस्थ सन्न्यासी को गुरु नहीं बना सक्ते है तो फिर उन को मुक्ति कैसे मिलेगी । परस्पर विरुद्ध बातें लिखते हुए पोल लेखक शायद अपने आप को भूल गये है ।

गृहस्थ से काषायवस्त्र लेने का निषेध किस ग्रन्थ में है. यह यदि पोलकार लिखते तो अच्छा था, परन्तु प्रमाण तो कुछ लिखते नही, और लिखते है गृहस्थ से काषाय लेनेवाला पतित हो जाता है । इस के बदले में हम यदि यह लिख दें कि सन्न्यासी से काषाय लेनेवाला पतित हो जाता है तो कौन पूछनेवाला है । सन्न्यास ग्रहण विधि जिन ग्रन्थों में है उन में कहीं भी यह नहीं पाया जाता कि सन्न्यासी से ही काषाय लेना चाहिये । यदि कहीं है तो पोलकार को चाहिये कि प्रमाण उद्धृत कर के बतावें । हम उन प्रमाणों को जिन में कि सन्न्यास ग्रहण करने का विधान है उद्धृत कर सक्ते है, परन्तु ग्रन्थ का विस्तार हो जायगा इस भय से उद्धृत नहीं करते, जिस की इच्छा हो वह शौनकीय सन्न्यास ग्रहण विधि भाग को देखे । बहुत दूर क्यों जावे, खास तोताद्रि गद्दी के मूल पुरुष भी गृहस्थ के शिष्य थे, यह बात हम ऊपर सिद्ध कर चुके हैं । क्या पोलवाले यह मानने को तैयार है कि तोताद्रि गद्दी के मूल पुरुष को मोक्ष नहीं मिला ?

जालियों की पोल—पेरग्राफ ३—

(३) गडन्त जाली लिखता है कि "तोतादिवाले अन्यान्य गद्दी वालों को पुनः शिष्य करते हैं" बात बहुत ही सत्य है। परन्तु यह अन्य गद्दी वालों के समान माया जाल से नहीं, न इसलिये कि तोतादि वाले बगल में झोली लटका कर गाव गांव में घूमते ही हैं। कोई अज्ञानवश गृहस्थ का शिष्य, या उन के अनुयायियों का शिष्य हो कर "अन्धे नैवनीय माना यथान्धा" के समान ज्ञान न प्राप्त हो कर भटकते भटकते आर्त हो कर तोतादि वालों के शरण में जाता है; तब शास्त्रीय रीति से पुनः शरणागत धर्म का उपदेश दिया जाता है। कोई बडे पडित होने से अथवा ऐसे पडित के शिष्य होने से ही ज्ञान हो जाता तो नारदजी पुनः विरक्तशिरोमणि सनकादिकों के शिष्य क्यो होते। दत्तात्रेयजी चौबीस गुरु क्यो करते। मैं २ के उत्तर में कह चुका हूँ, विरक्त के शिष्य हुए बिना मुक्ति की आशा ही फिजूल है।

देखिये—प्रतिवादिभयङ्कर प्रथम वेदान्त देशिक के पुत्र के शिष्य बडगल थे। उन के रसोइया भी थे। दूसरी वार वृद्धावस्था में वरवरमुनिस्वामी के चेला हो कर तिङ्गल भये। इसी से, उन के अनुयायी अभीतक अर्धवडगल तिलक करते है। "वेदान्त देशिक कठाक्ष विवृद्ध बोधं कान्तोपयन्तृयमिना करुणैक पात्रम्" यह उन का तन यन है। गोवर्धन रङ्गाचारी प्रथम तोतादि के शिष्य कुमार वेंकटाचारी के सिष्य थे। पश्चात् श्रीनिवासाचारी के शिष्य भये। कुरुक्षेत्री शठकोपस्वामी को भी वे गुरु मानते है। बलरामाचारी गुण्डी के शिष्य थे। हयग्रीवस्वामी पहिले अहिरोली के शिष्य थे, जूनागढ के कमलनयनशास्त्री खुराशा के शिष्य थे। वे सब पीछे वृन्दाबन वालो के शिष्य भये। राजगुरु जनार्दनाचार्य प्रथम वडगल थे, फिर बदिकाश्रम, वृन्दाबन, रीवॉ आदि तीन जगह के शिष्य हो गये। गृहस्थ गुरु से ज्ञानपूर्ति न होने से ही इस प्रकार कोल्हू के बैलो के समान घूमने पडते हैं।

परीक्षा—उपर दूसरे पेरग्राफ की परीक्षा में हम ने यह बता दिया है कि मुमुक्षु गृहस्थ के शिष्य हो सक्ते है, कई वैदिक उदाहरण भी दिया है। यहाँ हम यह बतावेंगे कि मुमुक्षुओं को गृहस्थ आचार्य का शिष्य होना ही मुख्य है। ऊपर जिन श्वेतकेतु भृगु और आरुणि आदि वैदिक मुमुक्षुओं का उल्लेख है वे सभी गृहस्थ के शिष्य थे, श्रीवै-

ष्णवसम्प्रदाय के गुरुपरम्परा मे अधिक संख्या के आचार्य गृहस्थ के ही शिष्य थे, यह बात भी पहले बतायी जा चुकी है। पञ्चसस्कारपूर्वक शरणागति करानेवाले आचार्य मुख्य किस आश्रम के होते है, यह हम प्रमाण पूर्वक यहाँ बताते है।

शाण्डिल्यस्मृति प्रथम अध्याय में कहा है–

" ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थो यतिस्तथा।
कृपयाऽऽश्रमिणस्सर्वे धर्म ब्रूयुस्स्वलिङ्गिने ॥१२५॥
गृहस्थो वापि सर्वेभ्यो धर्म ब्रूयान्महामति ।
परिव्राडपि वा ब्रूयात्सर्वश्रेष्ठो गृहाश्रमी ॥१२६॥ "

अर्थात ब्रह्मचारी गृहस्थ वानप्रस्थ और सन्न्यासी ये सभी आश्रम के पुरुष स्वलिङ्गियों को अर्थात् स्वय जिस आश्रम के हों उस आश्रम के लोगों को धर्मोपदेश दे। अथवा गृहस्थ ही सभी आश्रमियो को धर्मोपदेश दें, अथवा सन्न्यासी ही सभी आश्रमियो को धर्मोपदेश दें, किन्तु सब में श्रेष्ठ गृहस्थाश्रमी गुरु है। इन वचनों से स्पष्ट है कि धर्मोपदेश देने में मुख्य अधिकारी गृहस्थाश्रमी गुरु ही है। " सर्वश्रेष्ठो गृहाश्रमी " यह वाक्य स्मरण रखने योग्य है। एक पक्ष तो यह है कि सन्न्यासी को पञ्चसस्कार स्वयं करने का जब अधिकार नही है तब पञ्च सस्कार पूर्वक शरणागति कराने का अधिकार उन को कैसे हो सक्ता है, क्यों कि पञ्चसस्कार कर्मों में हवन आदि करने पडते है, सन्न्यासी को अग्नि नही है, अग्निस्पर्श करने तक का अधिकार नही है। हम इस पक्ष के पक्षपाती नही है, सन्न्यासी दूसरे से पञ्चसस्कार करा कर तब स्वय शरणागतिमात्र करा सक्ता है, अथवा हवन वगैरह कार्य दूसरे से करा कर बाकी कर्म स्वय कर सक्ता है, अथवा अग्निकार्य हवन आदि के विना ही सब कुछ कर सक्ता है, किन्तु ऐसा कार्य सम्पादन हो

जाने पर भी गोणत्व तो बना ही रहेगा। "अभावे शालिचूर्णं वा" न्याय से यह सब हो सक्ता है। यही शास्त्र सिद्ध सिद्धान्त है। ऐसा होते हुए भी कोई यह कहे कि गृहस्थ को शिष्य करने का अधिकार नहीं–सन्न्यासी को ही अधिकार है, तो यह कहना मूर्खों के सिवाय और किस को मान्य होगा। गृहस्थ के शिष्य होनेवालों को ज्ञान प्राप्त नहीं होगा–सन्न्यासी के शिष्य बनने से ही ज्ञानप्राप्त होगा––ऐसा यह नवीन सिद्धान्त विद्वानो के लिये परिहास्य है। साक्षात् पराशरमहामुनि, जिन के विषय में श्रीयामुनाचार्य की यह सूक्ति है—

"तत्वेन यश्चिदचिदीश्वरतत्स्वभाव–
भोगापवर्गतदुपायगतीरुदार ।
सन्दर्शयन्निरमिमीत पुराणरत्न
तस्मै नमो मुनिवराय पराशराय ॥"

गृहस्थ के शिष्य रह कर भी समस्त संसार को पुराणद्वारा तात्विकज्ञानोपदेश कर गये है। मुनिवर शुक गृहस्थ शिष्य रहते हुए भी ज्ञान प्राप्त कर मोक्षपदवी पर पहुँच गये है। ऐसे सकडो उदाहरणों के रहते भी पोलकार को ऐसा लिखने का साहस हुआ, यह आश्चर्य की वात है।

पोलकार लिखते है—तोताद्रिवाले पुनश्शरणागति धर्म का उपदेश करते है। हमारे समझ में इस का अभिप्राय ठीक नहीं आया। केवल शरणागति धर्म का स्वरूप फल अधिकारि आदि का उपदेश तो अन्य विद्वान् भी कर सक्ते है, केवल इस प्रकार का उपदेश प्राप्त होने से मोक्ष नहीं मिल सक्ता। भगवत्सन्निधि में ले जा कर शरणागति कराने से ही मोक्षप्राप्ति होगी। तोताद्रिवाले यदि उन के पास आये हुए एकवार अन्यद्वारा शरणागति कराये गये मनुष्य को पुनश्शरणागति कराते हों तव तो यह कार्य शास्त्रविरुद्ध होगा, क्यों कि शरणागति एक

ही बार करना शास्त्रसिद्ध है । दुबारा करना हमारे पूर्वाचार्यों के अभि-प्राय में अयोग्य है । " सकृदेव प्रपन्नाय "-

" सकृदेव हि शास्त्रार्थः कृतोय तारयेन्नरम् ।

इत्यादि प्रमाणों से शरणागति का सकृत्कर्तव्यत्व सिद्ध है। श्रीव-चनभूषण आदि ग्रन्थों में शरणागति का स्वरूप बताते हुए सकृत्कर्तव्यता बतायी गयी है । तोताद्रिवाले पुनश्शरणागति न करा कर केवल धर्मोप-देशमात्र करते हों तो वह निरुपयोगी है । पोलकार लिखते है कि प-ण्डित होने से अथवा पण्डित के शिष्य होने से ज्ञान नहीं होता! ठीक है, फिर क्या तोताद्रिवालों के शिष्य हो जाने से ही ज्ञान हो जाता है? वाह, खूब कहा, संसार में जितने तोताद्रिशिष्य है- सब ज्ञानी ही तो है ? नारदजी तथा दत्तात्रेयजी को हमारी समझ में अभी तक ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ, क्यों कि वे तोताद्रिवालों के शिष्य नहीं हुए । पोलकारजी! आप तो कहते हैं विरक्त के शिष्य भये विना, नही नहीं-तोताद्रिवालों के शिष्य हुए विना मुक्ति की आशा नही है, किन्तु हमारा यह कहना है कि जो मुक्ति श्रीरामानुजस्वामीजी वरवरमुनिस्वामीजी श्रीलोकाचार्यस्वामीजी श्रीवेदान्तदेशिक आदि को नहीं मिली वैसी मुक्ति हमें नहीं चाहिये, क्यों कि वे सभी गृहस्थ के शिष्य ही थे ।

श्रीप्रतिवादिभयङ्करस्वामीजी श्रीवेदान्तदेशिक के पुत्र के शिष्य अवश्य थे, वह शिष्यत्व उन से श्रीभाष्यकालक्षेप करने से है । पञ्च-संस्कार उन को उन से नहीं प्राप्त हुए थे, किन्तु अपने ही पिताजी से प्राप्त थे । श्रीवरदाचार्यस्वामीजी के वे रसोइया थे—इस का कोई प्र-माण नहीं । यदि रहे भी हो तो कोई आपत्ति की बात नहीं । उस जमाने मे गुरु की सर्वप्रकार से सेवा करना शिष्य लोग अपना कर्तव्य समझते थे, किडाम्बियाचान् स्वामीजी श्रीरामानुज स्वामीजी के वास्ते

रसोई करते थे, उन को " यतीन्द्रमाहानसिक " बिरुद दिया गया है। श्रीवटुकपूर्णस्वामीजी श्रीरामानुजस्वामीजी को दूध तैयार कर के देते थे, वे सब ७४ पीठाधिपतियों में है । श्रीप्रतिवादिभयङ्कराचार्य भी श्रीवर-दाचार्यजी के लिये रसोई बनाते रहे हों तो कोई आक्षेपार्ह विषय नहीं माना जा सक्ता, किन्तु उस जमाने में गृहस्थों के घरों में पुरुष रसोई नहीं बनाते थे, किन्तु बनाती थीं स्त्रियाँ। अतएव श्रीप्रतिवादिभयङ्कराचार्य स्वामीजी रसोई बनाते थे—न तो यह बात सम्भावित है, न इस में प्रमाण है ।

श्रीवेदान्तदेशिक स्वयं तेंगलै थे या वडहल, यही विवादग्रस्त है; तेङ्गलै सम्प्रदाय के प्रामाणिक लोग तो यही कहते है कि वे स्वय तेङ्गलै थे, ऐसी स्थिति में श्रीप्रतिवादिभयङ्कराचार्य पहले वडगलै थे—पीछे तेङ्गलै भये—इस उक्ति में कोई सार नहीं ।

श्रीप्रतिवादिभयङ्कराचार्य श्रीवरवरमुनिस्वामीजी के शिष्य हुए, यह सत्य है । शिष्य होने के लिये केवल मन्त्रोपदेश लेना अथवा किसी साम्प्रदायिक ग्रन्थ का कालक्षेप करना इतना ही पर्याप्त है, पुनश्शरणा-गत होने की कोई आवश्यकता नहीं होती । श्रीवचनभूषण में तृतीय प्रकरण में श्रीमदष्टाक्षर मन्त्र के उपदेष्टा आचार्य बताये गये हैं। अतएव श्रीप्रतिवादिभयङ्कराचार्य ने श्रीवरवरमुनिस्वामीजी के शिष्य हो कर भग-वद्विषय आदि ग्रन्थों का उपदेश उन से प्राप्त किया था ।

श्रीप्रतिवादिभयङ्कराचार्य के अनुयायी अर्धवडगल तिलक करते हैं, यह निरर्थक उक्ति है । अर्धवडगल तिलक का लक्षण क्या है, यह पोलकार ने बताया ही नहीं ।

श्रीप्रतिवादिभयङ्कराचार्य के तनयन श्लोक में अवश्य ही श्रीवेदा-न्ताचार्यस्वामीजी की कृपा से ज्ञानाभिवृद्धि होने की बात कही गयी है ।

श्रीवेदान्तदेशिक के अनुग्रह से श्रीप्रतिवादिभयङ्करस्वामीजी को विशेष ज्ञान प्राप्त हुआ था, तोताद्रिवालों के शिष्यों के समान वे कृतघ्न नहीं थे—जो श्रीवेदान्तदेशिक के अनुग्रह को भूल जाते, श्रीवरवरमुनि-स्वामीजी के शिष्य होने पर भी, पहिले ही श्रीभाष्योपदेश श्रीवरदाचार्य-स्वामीजी से प्राप्त होने के कारण उन के तनयन श्लोक में उन की कृपा का स्मरण किया गया है। श्रीवरवरमुनिस्वामीजी ने ही पूर्वसम्बन्ध का स्मरण रहने के लिये तनयन श्लोक के प्रथमपाद को इस प्रकार बनाया था, यह बात उन के चरित्र से स्पष्ट है। आज भी श्रीभाष्यकालक्षेप करते हुए श्रीवेदान्तदेशिक श्रीवरदाचार्य आदि के तनयन बोलने का सम्प्रदाय तेङ्कलों में प्राय: प्रचलित है।

गोवर्धन रङ्गाचार्यस्वामीजी पहले किस के शिष्य थे किस के नहीं, यह विषय हम विचारना नहीं चाहते, इतना अवश्य कहेंगे कि श्रीरङ्गाचार्य के भाई बन्धु सभी श्रीप्रतिवादिभयङ्कराचार्य के वंशस्थों के शिष्य थे, अब भी कुछ हैं, कालक्रम से कुछ लोग स्वयं बन गये, कुछ लोग कन्दाडै-शिष्य बने, कुछ लोग तोताद्रि के शिष्य हुए, कुछ लोग अब भी श्रीप्रतिवादिभयङ्कर के शिष्य बने हुए है।

यहाँ पर यह बात हम बता देना चाहते है कि एक योग्य आचार्य के शिष्य होने के पश्चात् गुर्वन्तराश्रयण करने के विषय में शास्त्रीय सिद्धान्त क्या है। इस विषय में एक दो प्रमाणों से अधिक कुछ मिलता नहीं है। महाभारत का एक वचन निबन्ध ग्रन्थों में उद्धृत है, वह यह है—

"मधुलुब्धो यथाभृङ्ग पुष्पात्पुष्पान्तर व्रजेत् ।
ज्ञानलुब्धस्तथा शिष्यो गुरोर्गुर्वन्तर व्रजेत् ॥"

अर्थात् जैसे मधु का लोभी भ्रमर कई पुष्पों के पास जाता है वैसा ही ज्ञानलोभी शिष्य भी कई गुरुओं के पास जावे । इस वचन में ज्ञानप्राप्त करने की इच्छा से एक गुरु करने के पश्चात् अन्यगुरु के पास जाने की अनुमति दी गयी है किन्तु पहले जिस गुरु का आश्रय लिया था उन से ज्ञानप्राप्त होने में कोई बाधा हो तभी दूसरे गुरु के पास केवल ज्ञान प्राप्त करने के उद्देश्य से जावे. और प्रथमगुरु की आज्ञा ले कर ही अन्यपुरुष से ज्ञान ले, यह बात शाण्डिल्य स्मृति के निम्न लिखित वचन से सिद्ध होती है —

" आचार्यचित्तानुगुणं सिद्धान्तानुगुण त्वपि ।
अन्यत्र शृणुयाज्ज्ञेयमनुज्ञाप्यैव जीवति ॥
यस्मिन्परमविद्याया न ससिद्धिरबोधत ।
गुरोर्वाप्यन्यतो ग्राह्या परा विद्या गुणान्वितात् ॥ "
(शा. स्मृ. अ. १)

अर्थात्, आचार्य जीते हों तो उन की अनुज्ञा ले कर ही उन के अभिप्राय के अनुसार और सिद्धान्त के अनुगुण ज्ञातव्य विषय को अन्य पुरुष से श्रवण करे । जिस गुरु के पास परम विद्या की सिद्धि उस के न जानने के कारण न होती हो, उस गुरु से अन्य गुणवान् गुरु से पर विद्या का ग्रहण करे । इस प्रकार प्रथम न्यासविद्याप्रदायी—गुरु से भिन्न गुरु के पास ज्ञातव्य अर्थ का ग्रहण और पराविद्या को ग्रहण की अनुमति शास्त्र में होने पर भी प्रथम गुरु की उपेक्षा या परित्याग करने की आज्ञा शास्त्र में नहीं है और आज तक न किसी पूर्वाचार्य ने ऐसा किया है । न्यासविद्याप्रदायी गुरु की बात दूर रहे, सामान्य यत्किञ्चिज्ज्ञान भी जिस से मिले उस में भी गौरवबुद्धि करना और उन की यथोचित सेवा करना शास्त्रसिद्ध है। भरद्वाजसंहिता अध्याय ३ में कहा है—

" ये चोपकुर्वते ज्ञानं किमप्यच्युतसंश्रयम् ।
विनोच्छिष्टाशनं कुर्याद्वृत्तिं तेष्वपि गौरवात् ॥ "

श्रीरामानुजस्वामीजी ने पॉच आचार्य किया, परन्तु पाँचों आचार्यों के पास पाँचवार पञ्चसंस्कार नहीं कराया, और न दूसरा आचार्य कर के पहले आचार्य को छोडा । उन को तो " पञ्चाचार्य परायणः " कहते है । पॉच आचार्य इस लिये उन को करना पडा कि श्रीयामुनाचार्य-स्वामीजी अपने पाँच शिष्यों के पास पाँच अर्थ छोड गये थे, उन अर्थों को जानना था । श्रीरामानुज को पञ्चसंस्कारपूर्वक शरणागति करानेवाले आचार्य श्रीमहापूर्णस्वामीजी थे । अन्य आचार्य तो कुछ कुछ ज्ञानविशेष देनेवाले थे । श्रीशैलपूर्णस्वामीजी से श्रीरामायण कालक्षेप किया, श्रीमालाकारस्वामीजी से दिव्यप्रबन्धाध्ययन किया, ऐसा ही अन्य दो आचार्यों ने भी कुछ अर्थ विशेष का उपदेश दिया था । श्रीमहापूर्ण स्वामीजी की आज्ञा से ही श्रीरामानुजस्वामीजी अन्य आचार्यों के पास गये, उन्हों ने पॉचों आचार्यों की सेवा की, पाँचों आचार्यों के विषय में उन की भक्ति थी । श्रीदत्तात्रेय के विषय में भी यही बात सङ्गत होती है । यह सब तो हुई शास्त्र और पूर्वाचार्यानुष्ठान की बात, तोताद्रि वालों के यहाँ कुछ और ही बात देखने में आती है । दलाल लोग सदा अन्य आचार्यों की निन्दा किया करते है, वे नाना प्रकार से अन्य आचार्य के शिष्यों के चित्तों में भ्रम उत्पन्न करते है, नानाविध प्रलोभन देते हैं, श्रीतोताद्रिस्वामी को मोक्ष के ठेकेदार बताते है, ऐसे कुत्सित उपायों से अन्य आचार्य के शिष्यों को दुबारा पञ्चसंस्कार करा कर शरणागत कर अपना शिष्य बनाते है, पूर्व के आचार्यों को बिलकुल छुड़वा देते है । वे भोले भोले मनुष्य यह क्या जाने कि गुरु परित्याग के कारण ब्रह्मराक्षस जन्म हमें मिलनेवाला है । " गुरोरपह्नवात्त्यागात् "

यह श्लोक क्या झूठा है ? गुरु परित्याग का फल—

" अरण्ये निर्जले देशे ब्रह्मरक्षो भवेन्नरः "

है । गुरु परित्याग की बात दूर रहे, गुरु की अपमानना करने का फल ही जबरदस्त है । शास्त्र कहता है—

" एकाक्षरप्रदातारमाचार्य योवमन्यते ।
श्वानयोनिशतं प्राप्य चण्डालेष्वभिजायते ॥ "

दु ख की बात यह है कि भोले भोले भक्त लोगों को मोक्ष दिलाने का प्रलोभन दे कर तोताद्रिवाले दुवारा शिष्य करते हैं, पर उन भोले लोगों को कुत्ते का जन्म ब्रह्मराक्षस का जन्म मिलता है । अब लोगों को मालूम हो जायगा कि मायाजाल फैलानेवाले कौन है ।

पोलकार कहते है कि विरक्त के शिष्य हुए विना मुक्ति की आशा नहीं, इस का उत्तर पहले दूसरे पेरग्राफ की परीक्षा मे दे चुके है, और स्पष्ट बता चुके है कि श्रीतोताद्रिस्वामी विरक्त नहीं हो सक्ते, वे तो गृहस्थों की अपेक्षया अधिक रक्त है । सन्न्यास लेते वक्त जो प्रतिज्ञा उन्हों ने वित्तेषणा छोडने की की थी उस का उल्लघन कर के द्रव्यार्जन करने में जब वे लगे रहते है, तब उन को—

" आरूढो नैष्ठिकं धर्म यस्तु प्रच्यवते द्विजः । "

इस श्लोक में कहे हुए पाप का भागी बनना पडेगा ।

जालियों की पोल पेरग्राफ ४—

(४) जाली जी लिखते हैं " तोताद्रि वाले दान दक्षिणा में अन्य गद्दी—वालों को नहीं लेते हैं " यह सफेद झूठ ही नहीं इस का नाम कृतघ्नता और निमकहरामी भी हैं । यह संसार जानता है कि तोताद्रि में जीवमात्र को अन्न दिया जाता है । यदि अन्य गद्दी वाले निर्ज्जीव है तो, इस का उत्तरदायित्व तोताद्रि स्वामी पर नहीं है । दक्षिणा भी ब्राह्मणमात्र को दिया जाता है । बात यही है दरिद्र को कितने भी दिया जाय उन की सन्तोषता कभी होती ही नहीं ।

इस प्रकार तोताद्रि के अनुयायि सैकडों मठों से आज भी आप के हजारों लोग जाते हैं। एक हयग्रीवस्वामी के खटला को छोड कर वृन्दावनवालों के और प्रतिवादिभयङ्कर वालों के किसी भी स्थान पर मुट्ठी भर अन्न का परमार्थ कहीं भी नहीं है।

परीक्षा-पोलकार कहते हैं कि तोताद्रि में जीवमात्र को अन्न दिया जाता है। इस का अर्थ कैसा गोलमाल है, यह पाठक स्वयं विचार करें। अन्न तो जीव को ही दिया जाता है, यह कौन नहीं जानता? "जीवमात्र" को इस शब्द में मात्र पद से यदि जीवभिन्न को दिया नहीं जाता—ऐसा अर्थ लेना हो तब तो इस में कोई विशेषता नहीं, क्यों कि सभी लोग जीव को ही अन्न दिया करते हैं। यदि जीवमात्र को अन्न देने का अभिप्राय यह हो कि सर्व जीवों को अन्न दिया जाता है, तो यह सफेद झूट होगी। तोताद्रि एक ग्राम का नाम है, उस में बहुत मनुष्य घर बाँध रहते है, अतएव तोताद्रि में सर्वप्राणियो को अन्न दिये जाने की बात सत्य होने पर भी तोताद्रिमठवालों का इस से क्या सम्बन्ध है, उन को इस से क्या महत्त्व है। तोताद्रि ग्राम मठवालों का तो है नहीं। हाँ, हम यह मानते हैं कि तोताद्रिस्वामी के मठ में उस बस्ती में रहनेवाले मठ के शिष्य ब्राह्मणों में से जो पराये अन्न से पेट भरते हों उन में से आधे को १५ दिन, और बाकी आधे को १५ दिन, एकबार चावल दाल भोजन दिया जाता है। यह अन्नदान धर्म समझ कर उदारता के कारण खुशी से नहीं किया जाता, किन्तु मजबूरी से अनिच्छा के साथ किया जाता है। इस का स्पष्टीकरण कर देने पर पोलकार का वह अभिमान मिट्टी मे मिल जायगा।

तोताद्रिग्राम इस वक्त ब्रिटिश गवर्नमेंट में होने पर भी पहले त्रावन्कोर के राज्य का था, त्रावन्कोर के राज्य में ३२ स्थानों में अन्नसत्र थे, उन में से तोताद्रि में भी एक था। तोताद्रिमठ के स्वामी

पहले उस अन्नसत्र के निरीक्षक पद पर थे। चिरकाल तक उन के निरीक्षण में अन्नसत्र चलता था। जब ब्रिटिश गवर्नमेंट और त्रावन्कोर राज्य मे सन्धि हुई उस वक्त सीमा पर का यह गाम ब्रिटिश राज्य में चला आया, उस गोलमाल के समय स्वामीजी ने उस अन्नसत्र को हथिया कर स्वयं मालिक वन उस को मठ का रूप दे दिया, और अन्नसत्र की जो जमीन जायदाद थी उस को स्वयं गिलंकृत कर लिया। इस प्रकार की गडवडी को देख कर त्रावन्कोर राज्य के तरफ से जब पूछताछ शुरू हुई, मामला मुकदमा चलने लगा तब आखिर में यह तय हुआ कि अन्नसत्र पहिले जैसा चलता था वैसा ही आगे भी चला करेगा, जमीन जायदाद उस को चलाने के लिये मठ के स्वामीजी के अधीन रहेगी। ग्राम के ब्राह्मणों को प्रतिदिन जैसे पहले अन्न दिया जाता था वैसा ही मठ में दिया जाया करेगा। इस व्यवस्था को हुए आज वहुत दिन वीत गये, लोग इस बात को भूल गये। क्रमशः गाम के सब ब्राह्मणों के स्थान में केवल वैष्णवमात्र को अन्न दिया जाने लगा। पीछे वह भी घट कर बस्ती के आधे वैष्णवों को एक दिन, और बाकी आधे को दूसरे दिन, इस प्रकार पारी पारी से दिया जाने लगा। अन्न बहुत ही मामूली दिया जाता है। आज कल वैष्णव ब्राह्मण भी पढ लिख कर स्वयं कमाई करने लगे है, अतएव मठ में भोजन करना अधिकाश लोग पसद नही करते, फिर भी नाममात्र के लिये यह अन्नसत्र चलाया जाता है, भूखों मरनेवाले कुछ लोग जबरदस्ती भोजन कर जाते है। यह है मठ के अन्नदान की पुरानी कथा। मठ में अन्न दिया जाता है तो स्वयं खुशी से नही, मजबूरी से। एक दिन बन्द करे तो मालूम हो, बस्ती के लोग कोर्ट मे पहुँचें। मालूम हुआ है कि इस विषय में पहले मुकदमेवाजी भी हुई थी। अस्तु, हम इस भिक्षा देहि कथा को यहीं समाप्त करते है।

जालियों की पोल—पेरग्राफ ५—

(५) जाली जी पूछते हैं कि " जब शठकोप प्रभृतिक भी असन्यासी थे, फिर उन को मुक्ति कैसी भयी " पंडितजी आप यह भी नहीं जानते हैं कि सन्यासी का मतलब विरक्त से है। तोताद्रि वालों के सिद्धान्त हैं कि शठकोपस्वामी के समान अस्पृष्ट संसार वैराग्यमूर्ति महासन्यासी भूमण्डल में आज तक दूसरे नहीं भये हैं, जिन्होंने जन्मते ही १६ वर्ष तक संसार को ताका भी नहीं ! धन्य है रामकेवल दासजी आप ऐसे महापुरुषों को भी अपने समान विषयाशक्त गृहस्थ अथवा बम्बई के दुकानदार समझते हो।

उन को गृहस्थ होने में आप के पास कुछ भी प्रमाण होतो कृपा कर के बतला दीजियेगा। शठकोप स्वामी के मन्त्रोपदेष्टा आचार्य श्रीविष्वक्सेन जी भी हमारे समझ में आप सदृश घोर संसारी नहीं हैं। आप माने तो कौन रोकेगा।

श्रीनाथमुनि को भी आपने घोर संसारी लिखने की धृष्टता की है। मालूम होता है रामकृष्णादि को गालियां देनेवाले श्रीराधिकाजी को सूर्पणखा लिखनेवाले भी आप ही के वंश के रहे होंगे। नाथमुनि के वैराग्य को आप कहां तक छिपा सकेंगे। जिन्हों ने संसार को ठोकर लगा कर सैकडों वर्ष समाधि लगाये फिर वही शठकोपस्वामी आकर उन को समाश्रयण किये वही महान् सन्यासी हैं। इसी लिये श्रीयामुनाचार्य स्वामी ने पिता को छोड कर पितामहंनाथमुनि विलोक्य कहा है। आश्चर्य तो यह है कि ऐसे महापुरुषों को भी आप गृहस्थ ठहराना चाहते हैं। अपने देह मे जगद्गुरु परिव्राजकाचार्य, मठाधीश्वर इन तीन पूंछ भी लगाने चाहते।

परीक्षा—पोलकार इस के पहले तो श्रीतोताद्रि स्वामी के सन्न्यासी पने का ढोल पीटते थे, अब इस पेरेग्राफ में आ कर सन्न्यासी का मतलब विरक्त लिखने लगे है। आगे इस का मतलब और ही कुछ निकले तो आश्चर्य नहीं। अस्तु, श्रीशठकोपस्वामीजी अस्पृष्टसंसार थे, तब क्या जो श्रीशठकोपस्वामी स्वयं अपने मुख से अपने ही दिव्यप्रबन्ध मे अपने आप को नित्यससारी बताते है, और भगवद्विषयावतरणिका में श्रीशठकोपस्वामीजी को नित्यससारी बतलाया है, यह सब उक्तियाँ

असत्यभाषण है ! यह हम मानते है कि श्रीशठकोपस्वामीजी परमविरक्त थे। क्या पोलकार को इतना भी मालूम नहीं कि अस्पृष्टसमार होना और परमविरक्त होना एक नहीं है। संसार में रहते हुए असंख्य मनुष्य विरक्त हुए और है, श्रीशठकोपस्वामीजी भी जब इस संसार के भीतर आकर अवतार ले चुके तो वे भी ससारी तो हो चुके, इस पर न कहना असम्भव है। संसार में जन्म लेने से जो कर्म भोग करना पडता है वह शठकोपस्वामीजी को करना नही पडा, ऐसा कहना कदाचित् योग्य हो भी सक्ता है।

श्रीविष्वकसेनजी के विषय में पोलकार का कहना है कि वे उतना घोरससारी नही है, इस से यह मतलब निकलता है कि वे कुछ तो ससारी है। पोलकार यह बतला देते तो अच्छा था, श्रीविष्वकसेनजी श्रीतोताद्रि मठ के वर्तमान स्वामीजी से अधिक संसारी है कि कम ? यदि अधिक ससारी है तो श्रीशठकोपस्वामीजी से हम लोग प्रार्थना करें कि वे यहाँ आ कर (इस वक्त चाहें जहाँ हो) श्रीतोताद्रिमठ स्वामी के शिष्य हो जायँ, जिस से कि उन को मुक्ति मिल जाय।

आगे पोलकार कुछ क्रोध में आगये है, अतएव यद्वा तद्वा लिख गये हैं। रामकृष्णादिकों को गालियाँ देनेवाला श्रीवैष्णवों में तो कोई नहीं है, अर्थ का अनर्थ कर के मनमानी व्याख्या कोई करे तो इस का इलाज नहीं है। तोताद्रिस्वामी के पक्ष लेनेवाले आप भी उसी कोटि में आवेंगे। प्रपन्नामृत में राधिकाजी को पूर्व जन्म में शूर्पणखा बताया है तो यह दोष प्रपन्नामृत कर्ता का है, दूसरों के ऊपर यह आक्षेप कैसे लागू हो सक्ता है, यदि हो सक्ता है तो आप के तोताद्रिस्वामी के ऊपर भी लागू हो सक्ता है। पुराण और इतिहास के ग्रन्थों में इस से भी अधिक खटकनेवाली बातें है, उन बातो के लिये किस को कोसा

जाय । श्रीमहाविष्णु ने ही बुद्धावतार लिया है, जिस बुद्ध को हम लोग वेदविद्वेषी नास्तिक मानते है, तो क्या उस पुराणकर्ता को गाली दे देने से काम चल जायगा । श्रीजानकीजी को मन्दोदरी की कन्या बतानेवाले इतिहास ग्रन्थ भी है । इन बातों पर विचार करने का यह स्थान नही है, अतएव हम आगे बढते है ।

श्रीनाथमुनिस्वामीजी वैराग्यशाली थे, तो पोलकार उन को गृहस्थाश्रमी मानते है कि नही ? यदि कोई गृहस्थाश्रमी होते हुए भी वैराग्यशाली हो तो उन को गुरु बनाने से मोक्ष मिल सक्ता है कि नहीं ? यदि मिल सक्ता है तो तोताद्रिस्वामी की वह ठेकेदारी रद्द हो जायगी ।

गृहस्थशब्द का अर्थ यदि गृहस्थाश्रमी है तब तों श्रीमन्नाथमुनि स्वामीजी भी अवश्य गृहस्थ कहलायेगे । यदि गृहस्थ शब्द का अर्थ और ही कुछ मान लिया जाय तो उस अर्थ को स्पष्ट शब्दों में कहना चाहिये था । रामकबलदासजी ने श्रीमन्नाथमुनिस्वामी को असन्न्यासी लिखा है, घोरससारी नहीं लिखा है, यह तो पोलकार की कल्पना है । ऐसी कल्पना न करते तो यद्वा तद्वा लिखने का अवसर ही नही मिलता। पोलकार को यह बात आश्चर्य की मालूम पडती है कि श्रीनाथमुनिस्वामीजी गृहस्थाश्रमी थे, इस में आश्चर्य किस बात का है ? वे वास्तव में गृहस्थाश्रमी ही थे, उन्हों ने सन्न्यासाश्रम ग्रहण नहीं किया था ।

" जालियों की पोल " में पाँचवें पेरेग्राफ के बाद ६ ठां पेरेग्राफ दिखाई नही देता । ६ की सख्या नहीं है । आगे ७ की संख्या लगी है । बीच में एक सख्या कहाँ चली गयी, इस का पता नहीं ।

जालियों की पोल—पेरग्राफ ७—

(७) जाली लिखते है कि " लक्ष्मीनाथ से लेकर केवल सन्यासी ही की अविच्छिन्नपरम्परा नहीं मिलती है " मैं पूछता हू कहां नहीं मिलती है । आप

" यत्र योगेश्वरः कृष्णा " भी नहीं पढा है। अच्छा थोडी देर के लिये मान लें कि लक्ष्मीनाथ और लक्ष्मी सन्यासी नहीं है। इसे आप का कहना क्या है उन को मुक्ति नहीं मिली यही है। हमारे समझ मे वह मुक्ति का भिखारी नहीं हैं। न और एक नारियल लेकर आप की दुकान मे मुक्ति खरीदने को आये थे। नाथमुनि तक के वैराग्य कह चुके, उन के समाश्रयण से पुण्डरीकाक्ष और राममिश्रजी भी पूर्ण ज्ञानी होगये होंगे। यामुनाचार्य खुद सन्यासी थे और नाथमुनि के आश्रयण भी लेते है। रामानुजस्वामी सन्यासी लोकदेशिक बालब्रह्मचारी, वरवरमुनि सन्यासी। इस प्रकार तोताद्रि की अविच्छन्नपरम्परा अद्यावधि विरक्त अथवा सन्यासी से ही है।

वरवरमुनि के शिष्यों मे से कुछ गृहस्थो ने भी गद्दिस्थ बनने की चेष्टा की थी, परन्तु प्राय वह सब के सभा निर्वंश होगये। आजकल उन के असल वंशज कोई नही है। जो आजकल उस गद्दी के बनते है, वह कोई कहीं का पैदाइशें किसी को स्त्री ने दत्तक ले रखा है। किसी और ही कोई खरीद रखा है। उस मे से भी सैकडों घरों मे विभक्त होने के कारण, ठीक तौर पर एक भी नहीं माने जा सकते हैं।

परीक्षा—रामकबलदासजी ने लिखा कि " सन्न्यासी की परम्परा श्रीलक्ष्मीनारायण पर्यन्त नही जाती है। " शरणजी इस के बदले में लिखते है " कहाँ नही मिलती है। " इस प्रकार लिखनेवाले शरणजी को चाहिये था कि गुरुपरम्परान्तर्गत सब आचार्यों को सन्न्यासी सिद्ध कर कर दिखाते। वह तो हो नहीं सका, लिखने लगे और कुछ उटपटाग बात। गुरुपरम्परा में सभी आचार्य तो सन्न्यासाश्रमी नही ही है। शरणजी लिखते है कि " पुण्डरीकाक्ष और राममिश्रजी भी पूर्ण ज्ञानी हो गये होंगे। " मालूम होता है शरणजी को इस बात का सन्देह है। जिन्हों ने श्रीयामुनाचार्यस्वामीजी को राजगद्दी के व्यामोह से छुडा कर परमज्ञानी विरक्त बनाया था उन राममिश्रजी के ज्ञानी होने में शरणजी को सन्देह है, तभी तो लिखते है " ज्ञानी हो गये होंगे "

श्रीलक्ष्मीनारायण से ले कर श्रीवरवरमुनिस्वामीजी तक कुल १८ आचार्य है, उन में सन्न्यासाश्रमी कुल ५ है। बाकी तेरह आचार्य सन्न्यासाश्रमी नहीं है। श्रीयामुनाचार्य, श्रीरामानुजाचार्य, श्रीगोविन्दाचार्य, श्रीवेदान्तीस्वामी, और श्रीवरवरमुनिस्वामी ये पाँच ही सन्न्यासाश्रमी है। ऐसे होते हुए भी शरणजी लिखते है "तोताद्रि की अविच्छिन्न परम्परा अद्यावधि विरक्त सन्न्यासी से ही है।" विरक्त शब्द और सन्न्यासी शब्द पर्याय नहीं हैं। जिन की पुत्रपौत्र परम्परा चलती है वे भी यदि विरक्त कहे जा सक्ते है और आचार्य हो सक्ते है तो फिर झगडा किस बात की है। सर्वसङ्गपरित्याग तो श्रीतोताद्रिस्वामी ने भी नहीं किया है। वर्तमान तोताद्रिस्वामी भी पहले गृहस्थाश्रमी ही थे, सन्न्यासाश्रम इस लिये लिया है कि घर की अपेक्षा आराम के साथ निश्चिन्त हो कर भोगानुभव कर सकें। वर्तमान तोताद्रिस्वामी में और इतर गृहस्थो में लाल कपडा और दण्ड के सिवाय भेद ही क्या है? दोनों वक्त खावें, मोटे मोटे गद्दियों में सोवें, चन्दन लगावे, पुष्पमाला पहनें, बहुमूल्य जरी के कपडे पहनें, कलावतूदार शाल ओढें, चाँदी सोने के बर्तन काम में लावें, पालकियों में बैठें, कोर्टों में मुकदमा लडें, अभिमान में फूले रहें, क्या यही सब वैराग्य के लक्षण है? यह तो अपने आश्रम को और स्वरूप को धब्बा लगाना है। प्रतिज्ञा भङ्ग के पाप का भार बढाना है। सन्न्यासाश्रम लेते हुए क्या प्रतिज्ञा करना पडा है? क्या लोग नहीं जानते? उधर तो "सन्न्यस्तं सन्न्यस्तम्" पुकार कर प्रतिज्ञा करना, और इधर घर से भी अधिक सम्पत्ति का उपभोग करना। यह क्या पाप नहीं है? क्या इसी का नाम वैराग्य है? लाल कपडा पहन लेने से वैराग्य नहीं आ जाता। वैराग्य मानसिक व्यापार है। गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी विरक्त हो सक्ता है। "गृहं तपोवनं तस्य" सूक्ति प्रसिद्ध है। विरक्त आचार्य का अनुष्ठान देखना हो तो कूरेशस्वामी मे देखो। वे गृहस्थ थे। सर्वस्वत्यागी थे।

शरणजी लिखते है कि वरवरमुनि के शिष्यों में से कुछ गृहस्थों ने गद्दीस्थ बनने की चेष्टा की थी. परन्तु सब निर्वंश हो गये " इत्यादि यह बातें सब तोताद्रि आदि सन्न्यस्त गद्दीधरों के ऊपर ही लागू पडता है। यह बात हम पहले ही लिख चुके है कि सन्न्यास देने के लिये ' यत्र कुत्र कुले जातो येन केनापि पालितः " किसी को पकड कर लाते है, और लाल कपडा पहना कर गद्दी पर बैठा देते है। गृहस्थ गद्दीधरों में सत्कुलप्रसूत पुरुषों की कमी नहीं रहती। श्रीवरवरमुनि स्वामी के स्थापित आठ गद्दीधरों मे तीन सन्न्यासी पॉच गृहस्थाश्रमी थे। तीन सन्न्यासियों में से परवस्तु पट्टर पिरान्‌जीयर स्वामीजी की गद्दी में आज कोई नहीं है। उन्हों ने अपनी गद्दी मे शिष्य को बैठा कर परम्परा नही चलाई। गृहस्थों में से दो गद्दीधरों की भी परम्परा नही चली। उन के नाम है--अप्पुळ्ळार, अप्पिळ्ळै। इन के ही संस्कृत नाम रामानुजाचार्य और प्रणतार्तिहराचार्य है। ये गृहस्थाश्रमी हो कर भी विरक्त थे, अतएव इन के सन्तान नहीं हुए। बाकी तीन गृहस्थ गद्दीधरों के वंश आज तक बराबर चलते आये है। श्रीदेवराजगुरु (एरुम्बि-अप्पा) श्रीवरदाचार्य (कन्दाडै-अण्णन्‌) श्रीप्रतिवादिभयङ्कराचार्य इन के वंश अविच्छिन्नता से आज तक चले आते है, और इन के वंशज सौ पचास आज भी मौजूद मिलेंगे।

दत्तक लेना कोई पाप नहीं है। धर्मशास्त्रों में द्वादशविध पुत्र लिखे है, उन में से कलियुग में औरस और दत्तक दो ही प्रकार के पुत्र होते है। दत्तक पुत्र लेने के विषय में सब से पहले सगोत्र सपिण्ड, उन के अभाव में असपिण्ड सगोत्र, उन के अभाव में असगोत्र सपिण्ड, उन के भी अभाव मे असपिण्ड असगोत्र सजातीय बालक लेने का विधान शास्त्र में है। परन्तु अधिकांश सगोत्र पुत्र लेने का ही आचार है।

ऐसा दत्तक पुत्र लेने पर भी वह पुत्र उसी वंश का होता है । अतएवं शास्त्र के अनुसार दत्तक पुत्र लेना जब पाप कर्म नहीं है, दत्तक पुत्र को औरस के समान सर्व अधिकार जब प्राप्त है, तब वंश विच्छेद किसी प्रकार से नहीं हो सक्ता । कलियुग में क्रयक्रीतपुत्र हो ही नहीं सक्ता । अतएव क्रीतपुत्र करने का आचार ही नहीं है । अन्य जाति में चाहे जो कुछ हो, ब्राह्मणों में तो ऐसा होता ही नहीं है, अतएव खरीद रखने की बात मिथ्या दोषारोपण मात्र है ।

सैकडों घरों में विभक्त हो जाने से वंशजत्व की कोई हानि नहीं होती, जगत्प्रसिद्ध चन्द्रसूर्यादि वंश भी सैकडों नहीं, हजारों घरों में विभक्त हो गये तो क्या तद्वंशज तद्वंशज नहीं माने जायँगे । कौन किस वंश का है, यह बात उन की परम्परा वंशवृक्ष आदि से ही जानी जाती है. अन्यथा आज ब्राह्मण लोग अपने को महर्षियों के गोत्रों में पैदा होनेवाले बताना भी व्यर्थ होगा । हम वसिष्ठगोत्री हम विश्वामित्रगोत्री कहते हुए ब्राह्मण लोग आज भी देखे जाते है । वसिष्ठ विश्वामित्र आदि गोत्र के लोग हजारों घरों में विभक्त हो गये है, फिर भी हम उन को वसिष्ठ विश्वामित्रादि गोत्र के मानते है, यह ठीक तौर पर है या नहीं, यदि है तो उन गृहस्थ गद्दीधरों ने ही क्या अपराध किया । यह शरणजी उन गृहस्थ गद्दीवालों को नहीं माने तो उन को कोई हानि नहीं है, जो उन को आज तक गद्दीधर मानते आये है, वे तो मान ही रहे है।

गृहस्थ गद्दीवाले आचार्यों की निन्दा करने के लिये पोलकार ने जो जो बातें लिखी है वह सभी बातें सन्न्यस्त गद्दीधरों के विषय में ठीक ठीक लगती है । मठ का मालिक कोई सन्न्यासी परलोकयात्रा करने की तैयारी में होता है, उस वक्त अपने शिष्यों में से किसी को लाल कपडा पहना कर अपना उत्तराधिकारी कायम करता है । दस आदमी के सा-

मने यह बात प्रकाशित करता है या कुछ लिखापढी कर जाता है, बस उस के परलोकवास होने पर वह उस के स्थान मे मठाधिपति हो कर काम करता हैं । कभी कभी मठाधिपति के अचिन्तितरूप से परलोकवास हो जाने पर, उत्तराधिकारी चुनने का और नियत करने का काम या तो मठ के नौकर चाकर करते है, या शिष्य लोग । अब यहाँ यह विचार करने की बात है कि एक सन्न्यासी मठाधिपति के अनेक शिष्य होने पर भी एक ही व्यक्ति उत्तराधिकारी क्यो होता है ? और अन्य शिष्य लोग उन को मठाधिपति या गद्दीधर क्यों मानते है ? अन्य शिष्यों की अपेक्षा उस शिष्य को गद्दीधर बनने का अधिकार कैसे प्राप्त हुआ । यहाँ पर शास्त्राधार कुछ भी नहीं है, केवल सङ्केतमात्र से काम चलता है । एक राजा के एक से अधिक पुत्र होने पर ज्येष्ठ ही राजा बन सक्ता है, इस विषय मे शास्त्र का आधार है, परन्तु इन मठाधिपतियों के विषयों में कोई शास्त्राधार नहीं है, जैसे कोई धनी आदमी सन्तान न होने पर मरते समय अपने किसी प्रीतिपात्र नौकर चाकर को अपनी सम्पत्ति दे जाता है, जैसे सभा सोसाइटियों के सभापति आदि चुने जाते है, वैसा ही यह काम भी होता है, केवल साङ्केतिक व्यवहार मात्र है ।

उत्तराधिकारी मुकर्रर करते हुए मठाधिपति उस व्यक्ति का कुल गोत्र विचार नहीं करता जिस को उत्तराधिकारी बना रहा है, किन्तु वह अपना शिष्य है कि नहीं इतना ही विचार करता है, और जो अपना प्रेमपात्र है ऐसे किसी को भी उत्तराधिकारी बना देता है । अन्यान्य शिष्यगण उस उत्तराधिकारी में विशेष योग्यता न होने पर भी और अ-योग्यता के होने पर भी मजबूरन उस को गुरु मानते है, उस के सामने माथा नमाते है । जब एक मठाधिपति सन्न्यासी के सैकडो शिष्यों में से एक व्यक्ति सङ्केतमात्र से मठाधिपति का उत्तराधिकारी बन सक्ता है

तो गृहस्थ ही क्यों नहीं बन सक्ता है। अस्तु, इस विषय को हम यहीं छोडते हैं।

जालियों की पोल—पेरग्राफ ८

(८)गढन्नी पूछने हैं " तोताद्रिवालो को सम्प्रदायाचार्य और जगद्गुरु कैसे मानलूँ। " यही प्रश्न अनन्ताचारी के विषय मे हमारे वैद्यजी ने किया था। उसी को नाम बदल कर तोताद्रि पर मढ रहा है। अस्तु, मै ऊपर लिख चुका हूँ कि शास्त्र और लोक व्यवहार यही कहता है कि सम्प्रदायाचार्य अथवा जगद्गुरु केवल विरक्त ही हो सकते है। गृहस्थो का धर्म सदा उन विरक्तो की शुश्रूषा और दास भाव है। आप शकर माधवादि अन्यान्य सम्प्रदाय वालों से भी पूछताछ कीजिये कि उन के सम्प्रदाय में भी कोई गृहस्थ जगद्गुरु बनने की धृष्टता करते हैं। रामानुज स्वामी सन्यास लेने के बाद ही इन उपाधियो से विभूषित किये गये है। पहिले यादव प्रकाशजी के चरण में तेल रगडते रहे है। वरवर मुनि को सन्न्यास के पूर्व यह गौरव प्राप्त नहीं हुआ है। प्रतिवादिभयङ्कर अन्नन् स्वामी आदि कोई भी सन्न्यासी होने के पहिले न उन के चेले ही भये रहे। गादी अनन्ताचारी को भी शिष्य करने का अधिकार श्रीतोताद्रि स्वामीजी से ही मिला हैं। सेठ पूरणमलजी शिष्य होने के लिये आतुर हो कर अनवरत प्रार्थना करने लगे, तब काञ्ची अनन्ताचारी को शंख, चक्र, और श्रीमुख पत्र देकर हैदराबाद भेजे वह तोताद्रि स्वामी का श्रीमुखपत्र रामलाल सेठ के घर मे अभी तक मौजूद है। इस प्रकार आप के पूर्वाचार्य भी तोताद्रिस्वामीजी को ही जगद्गुरु मानते रहे है। परन्तु अपने माता पिता को छोड कर और ही को माता पिता कहनेवाले असल जगद्गुरु को छोड कर और को जगद्गुरु क्यो नहीं कहेंगे।

परीक्षा—वैद्यजी ने जो प्रश्न किये थे, उन के उत्तर हम ने पहले पेरग्राफ की परीक्षा करते हुए लिख दिया है। विरक्त ही सम्प्रदायाचार्य अथवा जगद्गुरु हो सक्ता है, इस बात की समालोचना करते हुए हम पहले बहुत कुछ लिख चुके हैं। श्रीवैष्णवसम्प्रदायाचार्यों में अधिक सख्या गृहस्थों की है, यह हम बता चुके है। इस विषय में जब पोलकार शास्त्र का कोई वचन नही लिखते हैं तो हमें भी शास्त्राधार

बताने की कोई आवश्यकता नहीं है। अब रहा आचार, वह सम्प्रदाय भेद से भिन्न है।

सन्न्यास लेने के बाद ही श्रीरामानुजस्वामी सम्प्रदायाचार्य और जगद्गुरु उपाधियों से विभूषित किये गये हैं तो उन के गुरु महाराज महापूर्ण स्वामी कैसे सम्प्रदायाचार्य हुए। श्रीलोकाचार्यस्वामीजी सन्न्यास न लेने पर भी जगदाचार्य कैसे कहे जाये। श्रीप्रतिवादिभयङ्कर अण्णा स्वामी आदि छः आचार्य तो श्रीवरवरमुनि के सन्न्यास लेने के बाद ही शिष्य हुए थे, परन्तु श्रीतोताद्रिस्वामी श्रीवरवरमुनि के सन्न्यास लेने के पहले ही शिष्य हो गये थे, यह बात हम पहले प्रमाणों से साबित कर चुके हैं। तब श्रीतोताद्रिस्वामी पोलकार के सिद्धान्त के अनुसार आचार्य ही नही हो सकेंगे।

पोलकार लिखते हैं कि वर्तमान प्रतिवादिभयङ्कर मठाधीश श्रीमदनन्ताचार्यस्वामीजी को शिष्य करने का अधिकार तोताद्रिस्वामी से मिला है। इस प्रकार के सफेद झूट का उत्तर और तो कुछ नहीं हो सक्ता। हाँ, यह हो सक्ता है कि हम भी लिखें कि श्रीतोताद्रिस्वामी को शिष्य करने का अधिकार श्रीमदनन्ताचार्यस्वामीजी से मिला है, और वह अधिकारपत्र एक व्यक्ति के पास रखा है।

" सर्वेषां दुर्निरोधं हि मुखमस्तीति भाषणम्। "

झूठी बात लिखते हुए भी कुछ सङ्गत लिखना होता है, असङ्गत बात लिखने पर तत्काल प्रकट हो जाता है। गादी अनन्ताचार्य नाम तो वर्तमान प्रतिवादिभयङ्कर अनन्ताचार्यजी का ही नाम है, पूर्णमलजी सेठ का वैकुण्ठवास हुए साठ सत्तर वर्ष से ऊपर हो चुका; तो पूर्णमलजी को वर्तमान गादीस्वामीजी के शिष्य बताना कैसे सङ्गत हो सक्ता है। पूर्णमलजी को शिष्य करने वाले श्रीमदनन्ताचार्यस्वामीजी का नाम

गादी अनन्ताचार्य नही है । आज से करीब सौ वर्ष पूर्व सेठ पूर्णमलजी समाश्रित हुए थे, वह भी हैदराबाद में नही, किन्तु शेखावाटी के लक्ष्मणगढ शहर में हुए थे । पोलकार को शायद यह मालूम नही है कि द्राविड देश मे दूसरे से अधिकार प्राप्त कर शिष्य करने की प्रथा नहीं है । द्राविड देश में एक भी आदमी दूसरे से अधिकार ले कर शिष्य करनेवाला नही मिलेगा । अधिकार ले कर शिष्य करनेवाले तो उत्तर भारत के ही लोग है, वर्तमानकाल के उत्तरभारतीय वैष्णवों की कार्य्य वाही को देख कर पोलकार ने अपनी बुद्धि की दौड दक्षिण भारत के आचार्यों के तरफ लगाया है ।

यह बात हमारी समझ में नहीं आई कि अपने माता पिता को छोड कर और ही को माता पिता कहनेवाला कौन है ? अतएव हम उस विषय मे कुछ नहीं लिखते ।

जालियों की पोल—पेराग्राफ ९.

(९) जालीजी लिखते हैं " अन्यान्य गद्दी वाले रामानुजसिद्धान्त से तिल मात्र भी विचलित नहीं है । " मै पूछता हू श्रीवरवरमुनि को आप लोग श्रीरामानुजस्वामी का अवतार मानते हैं या नहीं ? यदि मानते है तो उन की आज्ञा का उल्लघन करनेवालों को आप रामानुजीय मानने का साहस करते हैं । देखिये वरवरमुनि ने आज्ञा दी थी कि उन के उत्तर काल मे होनेवाले किसी भी आचार्य की मूर्ति नहीं पधरावें और बनवावें " उसके विरुद्ध पुष्कर, और वृन्दावन में अपनी २ मूर्ति गढवा कर " घर घर दे दुहाई, हमीं शम्भू नाथ के भाई " कहला कर लोगों को ठगना ही रामानुज सिद्धान्त है, जिन को शिष्य करने तक का अधिकार नहीं था, वह वणियों की सेवा से कुछ धन मिलजाने पर स्वयं देवता बन कर पुजवाना कितना अन्याय है । वृन्दावन मे तो श्रीयमुनाचार्य को धक्का देके एक किनारे कर के अपने खुद बीच मे बैठ गये । वाहरे अटल सिद्धान्तीजी !

परीक्षा—श्रीवरवरमुनिस्वामीजी ने क्या आज्ञा किया था, इस का वर्णन ग्रन्थों में कही पाया नही जाता । पाञ्चरात्रशास्त्र में भक्तों की

मूर्ति बना कर स्थापना करने की स्पष्ट आज्ञा पाई जाती है। यथा—
पाद्मसंहिता क्रियापाद अध्याय ३२—

"प्रतिकाय च भक्तानां कृत्वा स्थापनमाचरेत् ।
स्वतन्त्रं वाऽन्यतन्त्रं वा यथालाभं शिलादिभिः ॥
कृताञ्जलिपुटं सौम्यं स्थितमासीनमेव वा ।
यथावर्णं यथारूपं यथाचाश्रमिधर्मिणम् ॥
यथावयोरूपधरं पद्मपीठे प्रतिष्ठितम् ।
कृतलक्षणसम्पन्नं शिल्पिभिस्सुपरीक्षितम् ॥"

अर्थात् शिला आदि पदार्थों में जो मिल सके उस से भक्तों की प्रतिमा बना कर स्वतन्त्र वा परतन्त्ररूप से स्थापना करे वह प्रतिमा कृताञ्जलिपुट हो, सौम्य आकार की हो, बैठी हुई हो वा खड़ी हुई। भक्त जिस वर्ण के और जिस आश्रम के हों, उस वर्ण और आश्रम के चिह्नों के साथ, कृताञ्जलिपुट, सौम्य मुखभावनायुक्त, खड़ी या बैठी, उन की अवस्था और आकार प्रकार के चिह्नों से युक्त हो, पद्मपीठ के ऊपर वह प्रतिमा स्थापिता हो, समस्त शिल्पशास्त्रोक्त लक्षणों से युक्त हो, इत्यादि। इस प्रकार सामान्यतया भक्तमूर्ति प्रतिष्ठा का विधान करने के बाद—

"दीक्षागुरोश्च प्रतिमा स्थापयन्मन्त्रसिद्धये।"

इस श्लोक में अपने अपने दीक्षागुरु की प्रतिमा की स्थापना करने का विधान किया गया है। आगे जा कर ऐसी प्रतिमाओं की प्रति दिन पूजा अर्चा करने का विधान—

"प्रत्यहं चार्चनं तेषामुपचारैः पृथग्विधैः ॥"

इत्यादि श्लोकों में किया गया है।

भरद्वाज संहिता परिशिष्ट अध्याय १ के—

" यथापूर्वाकृतीन्नित्यान्मुक्तांश्चैव यथागमम् ।
यथावतारदेह च पूजयेद्धरिमिच्छया ॥ " (श्लो ७०)

इस वचन में नित्य और मुक्तों की अवस्था पूर्व वे इस भूमण्डल में जिस आकार से रहते थे उसी आकार से युक्त बना कर पूजा करने का विधान है ।

इसी प्रकार अन्यान्य संहिताओं मे भक्तों की प्रतिमा बना कर प्रतिष्ठित करने का विधान शास्त्रों मे है । ऐसे होते हुए श्रीवरवरमुनि स्वामीजी अपने काल के पश्चात् किसी की भी मूर्ति न बनाने की आज्ञा दें यह असम्भव है । शास्त्रविरुद्ध बात का निषेध आचार्य लोग करें, यह स्वाभाविक है । अविरुद्ध और विहित विषयों में निषेध करें, यह अस्वाभाविक है । श्रीवरवरमुनिस्वामीजी जब परमपद जाने लगे तब उन के शिष्यगण आचार्य के भावी वियोग की चिन्ता से अत्यन्त दुःखी हुए थे। उपायान्तर न होने के कारण वरवरमुनिस्वामीजी की मूर्ति प्रतिष्ठित कर उन के दर्शन से ही सन्तोष प्राप्त करना चाहा, तब उन लोगों ने इस बात की आज्ञा चाही, श्रीवरवरमुनिस्वामीजी ने शिष्यो की प्रार्थना सुन कर दो मूर्तियाँ छोटी छोटी बना लेने की आज्ञा दी–ऐसी बात इतिहास ग्रन्थों में पायी जाती है । उस समय में श्रीवरवरमुनिस्वामीजी ने ऐसी आज्ञा दी थी कि इस के बाद हमारी कोई मूर्ति न बनावे, ऐसी आज्ञा देना स्वाभाविक है, महान् पुरुष अपने विषय में विशेष आडम्बर होना पसन्द नहीं करते है । अतएव उन्हों ने अपनी जिन दो मूर्तियों के लिये आज्ञा दी थी वे मूर्तियाँ इतनी छोटी है कि उन के अङ्गप्रत्यङ्गों का दर्शन होना भी कठिन है, तीन चार अङ्गुल से अधिक ऊँची नहीं है । परन्तु आज उन्हीं श्रीवरवरमुनिस्वामीजी की मूर्तियाँ घर घर में स्थापित है, इतनी

बडी कि जिन को एक दो अदमी कठिनता से उठा सकें । तब क्या हम यह मान लें कि उन की इतनी बडी मूर्ति बनाना उन की आज्ञा का विरुद्ध है ? नहीं. भक्त लोग भक्तिप्रकर्ष से अपने गुरु के विषय में जितना ही महत्त्व दें उतना ही कम है । क्यो कि उन के लिये " गुरुरेव पर ब्रह्म " है । श्रीरामानुजस्वामीजी के विषय में भी यही बात है। उन के जीवितकाल में कुल दो मूर्तियां उन की आज्ञा से स्थापित हुई थीं, परन्तु आज हजारों की संख्या मे हैं । इस कार्य को क्या हम उन की इच्छा के विरुद्ध मान लें। आचार्य लोग जब उन के शिष्य चरणोदक लेने की वा उच्छिष्टान्न लेने की इच्छा करते हैं, तब भी मना हीं करते है, और देने मे सङ्कुचित होते है, तो क्या शिष्य गुरु के एकवार 'नहीं' कहने पर चुप हो जाता है, नहीं, अत्यन्त आग्रहपूर्वक गुरु के मना करते रहने पर भी श्रीपादतीर्थ और उच्छिष्टान्न ग्रहण करते है । मूर्ति के विषय मे भी यही बात हुई होगी । शिष्यों ने श्रीवरवरमुनिस्वामीजी से मूर्ति बनाने की आज्ञा माँगी होगी, उन्हों ने पहले तो 'नहीं' कहा होगा, विशेष आग्रह करने पर छोटी छोटी दो मूर्तियाँ बना लेने की आज्ञा देते हुए कहा होगी कि अब कोई हमारी मूर्ति नहीं बनावे । इसी के आधार पर यह बात चल गयी होगा कि श्रीवरवरमुनिस्वामीजी ने अपने काल के बाद किसी की मूर्ति न बनाने की आज्ञा दी, यह भी हम कह सक्ते है कि वह आज्ञा उन्ही लोगों को दी गई थी जो उस वक्त वहाँ मौजूद थे, अतएव वे ही उस आज्ञा के पालन करने के लिये बाध्य थे । सिवाय इस के—

" अत्यन्तभक्तियुक्तानां न शास्त्रं नैव च क्रमः । "

इस वचनोक्त प्रकार से शिष्य लोग अपने गुरु की प्रतिमा भक्ति प्रकर्ष के कारण स्थापित करें, यह कार्य दुष्टकार्य नहीं माना जा सक्ता । श्रीवर-

वरमुनिस्वामीजी के ऐसी आज्ञा करने की बात किसी ग्रन्थ में उल्लिखित भी नहीं है यह भी यहां विचारने की बात है। अतएव हम इस निर्णय पर आते हैं कि पुष्कर और वृन्दावन में शिष्यों ने अपने गुरु की मूर्ति स्थापित कर दी तो यह कुछ अधार्मिक कार्य नहीं है।

बनियों की सेवा से कुछ धन प्राप्त करने की बात तो श्रीतोताद्रि स्वामी में भी घटता है। श्रीतोताद्रि स्वामी क्या बनियों के दिये हुए द्रव्य को नहीं लेते। बनियों के नहीं तो फिर किस के दिये हुए लेते है? ब्राह्मण गरीब तो क्या द्रव्य देंगे। बनियों के दिये हुए लेंगे नहीं, फिर क्या शूद्रों के दिये हुए द्रव्य वे लेते हैं। जो बात अपने ही ऊपर घटती है वही बात दूसरों के लिये लिखना क्या बुद्धिमानी है।

"पङ्कं व्योमनि विकिरन् स्वमेव गात्रं मलीमसी कुरुते।"

बृन्दावन में यामुनाचार्यस्वामीजी की मूर्ति को एक किनारे कर देने की बात झूठी मालूम होती है, बीच में ही श्रीयामुनाचार्यस्वामीजी की मूर्ति है। जिस बृन्दावन के श्रीरङ्गाचार्यस्वामीजी की उदारता और सहृदयता के कारण उन के समय के श्रीतोताद्रिस्वामी श्रीपट्टरपिरान् जीयरस्वामीजी को उत्तरभारत में आने और बदरिकाश्रम यात्रा करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था उन्हीं के विषय में तोताद्रिवालों का यह कृतघ्नता का व्यवहार! आश्चर्य है. ऐसे लोगों की बुद्धिमत्ता की। श्रीपट्टरपिरान् जीयरस्वामी के पूर्व तोताद्रिमठ के कोई स्वामी उत्तरभारत मे नहीं आये थे, उस समय पैदल यात्रा करना कठिन काम था, विशेष द्रव्यव्यय की आवश्यकता होती थी, थोडे आदमियों के साथ यात्रा करना धोके का काम था, श्रीतोताद्रिमठ में उस समय इतनी सम्पत्ति नहीं थी, बृन्दावन के श्रीरङ्गाचार्यस्वामीजी जब दक्षिणयात्रा गये थे, तब तोताद्रिस्वामी ने अपनी बदरिकाश्रमयात्रा की इच्छा प्रकट करते हुए सहायता माँगी। बृन्दावन

के स्वामीजी ने अपनी उदारता और सहृदयता से सहायता देना स्वीकार किया । अपने शिष्य मथुरा के सेठजी से यात्रा—खर्च के लिये एक लाख रूपये दिलाया, और वृन्दावन आने पर श्रीतोताद्रि स्वामीजी को सेठजी से फिर एक लाख रूपया भेट कराया । आज तोताद्रिमठ में जो सम्पत्ति दिखाई देती हैं, इस का अङ्कुरारोपण यहीं से हुआ । यह बात वैष्णवमात्र जानते है । तोताद्रिस्वामीजी के हिमायती बनते हुए पोलकार शरणजी ने उन्ही श्रीरङ्गाचार्यस्वामीजी और सेठजी के विषय में यह निन्दनीय कठिन उक्तियों का प्रहार किया है । यह कहाँ तक न्याय्य है, पाठक ही विचार करेंगे ।

जालियों की पोल—पेराग्राफ १०—११

जाली जी का १०–११ आक्षेप है कि " तोताद्रिवाले सिहासन में लिंगाकार करते हैं । इन स वडगल ही अच्छे हैं " मैं ऊपर लिख चुका हूं कि प्रतिवादि भयङ्कर तथा अन्य कुछ लोग वडगल से तिगल भये हैं अत. उन के तिलक के सिहासन के ऊपर के भाग वडगल का और नीचे का भाग तिगल का सा कर के वे लोग (माथे माधोदास विराजे काणे गोरख खटके । हाथे जग जीवन स्वामी नीचे मम्हमद लटके) वाले चेला की नकल कर लिये है । तोताद्रिवालों से वडगल अच्छे होते हुए भी आप को वडगल से तिगल हो कर उन के अनुयायी बनने पडे, पर खेद है.—" जात संस्कारो न निवर्तते ,, तो बना ही रहने का । सिहासन का ऊपर का भाग कुछ उन्नत रखा जाता है । क्यों कि यह लक्ष्मीजी का पाद पीठ है ॥ वह पाद पीठ कमल कर्णिका है । इस लिये उस का आकार आप स्वयं देख सकते हैं । हमारी प्रार्थना यही है कि आप दो नाव पर पाव न रख कर शुद्ध वडगल या शुद्ध तिगल बन जाइये ।

परीक्षा—प्रतिवादिभयङ्करवश्य तिलक के सिहासन में ऊपर बडहल नीचे तेङ्गल का आकार करते है—ऐसा लिखना बिलकुल मिथ्या है, और असङ्गत है । वडहलै तिलक में तो सिंहासन होता ही नहीं है । प्रतिवादिभयङ्करवाले पहले वडहलै थे, इस का कोई प्रमाण नहीं है, श्रीवेदान्तदेशिक के पुत्र के पास श्रीभाष्य कालक्षेप श्रीप्रतिवादि

भयङ्करस्वामीजी ने किया था, इस से यह अनुमान करना कि पहले वे वडहलै थे, पीछे तेङ्गलै हुए, अत्यन्त असङ्गत है । तेङ्गलै सम्प्रदायवाले तो श्रीवेदान्तदेशिक को भी तेङ्गलै तिलकवाले सिद्ध करते हैं, यह बात शायद शरणजी को मालूम नहीं है । जब वे ही तेङ्गल थे तो शरणजी की कल्पना सब व्यर्थ हो जाती है । और प्रतिवादिभयङ्कर स्वामीजी को अपने पिताजी से ही पञ्चसम्स्कार हुए थे; श्रीवरदाचार्यस्वामीजी के पास केवल श्रीभाष्य कालक्षेप किया था । रामकवलदासजी ने वडहलै और तेङ्गलै तिलक का प्रस्ताव निरर्थक ही उठाया है, हम उस विषय पर यहाँ कुछ भी लिखना नहीं चाहते, वह विषय बडा है. और यहाँ उस पर विचार करना अनावश्यक है । प्रतिवादिभयङ्कर वंश के लोगों में या शिष्यों में आज एक भी वडहलै तिलक करनेवाला नही है । दक्षिणभारत में वडहलै और तेङ्गलै सम्प्रदाय के लोगों मे प्रबन्ध पाठ करने आदि के सम्बन्ध में झगडा अवश्य होता है, परन्तु, तेङ्गलै या वडहलै तिलक को निन्दनीय कह कर वे परस्पर में गालियां नहीं देते ।

जालियों की पोल—पेरग्राफ १२—

(१२) जालीजी के (रामानुजस्वामीजी ने गद्दी नहीं कायम किये और हिरण्मय शिविकारोहण ही किये) इन लेखों से पता लगता है कि आप पूर्वाचार्यों के इतिहासों से अत्यन्त अपरिचित है । रामानुज स्वामी ने ७४ गद्दी कायम किये है । देखिये (चतुस्सप्तति शिष्याढ्य पञ्चाचार्य समाश्रय) क्या कहते हैं । ७४ शिष्य को ७४ पीठाधिपति कायम किये हैं । यह तात्पर्य नहीं कि ७४ शिष्य ही है । यदि ऐसे होते तो संसार में उन को जगद्गुरु कोई नहीं मानते ।

यह सब बातें यतीन्द्रप्रणव, प्रभाव गुरु परम्परा प्रभावादि एकवार गुरु से पढने से मालूम हो जांयगे । आप के मत से प्रथम यह सम्प्रदाय भी नही रहा होगा । हिरण्मय शिविका को क्या कहते हो (तत कनक पर्य्यंके तरुण द्युमणि द्युतौ, विशाल बिमल श्लक्षण) इस इस उत्तर दिनचर्या मे वरवरमुनि के पलग भी सुवर्ण के लिखे है । आप यदि भूतपुरी आदि स्थल मे श्रीरामानुज स्वामी के उत्सव मे कभी गये होते तो पता लगता कि सोने के वाहनादिक और कुण्डलादिक है या नहीं, और उस मे रामानुजस्वामी विराजते है या नहीं ।

परीक्षा—श्रीरामानुजस्वामीजी ने गद्दी नहीं बाँधा- यह रामकवल-दास का कहना है, इस का क्या अर्थ है, यह हमारे समझ में आया नहीं। चोहत्तर पीठाधिपति उन्हों ने स्थापित किया था, अतएव शिष्यों की गद्दी तो उन्हों ने कायम किया था। स्वयं अपनी कोई गद्दी उन्हों ने स्थापित नहीं किया था, यह बात प्रत्यक्षसिद्ध है। श्रीरामानुजस्वा-मीजी का कोई मठ भी नहीं है। गद्दी स्थापित करने न करने के विचार से यहाँ कोई प्रयोजन हमें नहीं है।

श्रीतोताद्रिस्वामी स्वर्णमय शिविका में बैठते है, यह दूषण राम-कवलदास ने दिया था, पोलकार को चाहिये था कि सन्न्यासी लोग वाहन मे बैठ सक्ते है और स्वर्ण आदि धातु का स्पर्श कर सक्ते है— इस में कोई शास्त्रीयप्रमाण देते, वह तो उन्हो ने किया नहीं, किन्तु " स्वय नष्टः पर.न्नाशयति " न्याय का अनुसरण करते है। उत्तरदि-नचर्या का एक श्लोक उद्धृत कर के बताते है कि श्रीवरवरमुनिस्वामीजी सुवर्ण पर्यङ्क में बैठते थे। यह कोई प्रमाण नहीं हो सक्ता। यह तो कवि का वर्णन मात्र है, यदि दिनचर्या में कही हुई सभी बातें सच्ची मानने लगें तो उसी श्लोक के आगे के श्लोक में बताई हुई बात भी सत्य मानना पडेगा, वह श्लोक यों है—

" समग्र सौरभोद्गार निरन्तरदिगन्तरे ।
सोपधाने सुखासीनं सुकुमारे वरासने ॥ "

इस श्लोक में बताया गया है कि श्रीवरवरमुनिस्वामीजी जिस पर्यङ्क में बैठते थे उस के चारों दिशायें खूब सुगन्ध से भरी हुई थीं, क्या यह हम मान लें कि श्रीवरवरमुनिस्वामीजी अत्तर ऊदवत्तिया आदि सुग-न्धि पदार्थों का भी उपयोग करते थे। भक्त कवि ने भक्ति रस के अ-नुसार कल्पनाप्रसूत भावों का प्रदर्शन किया है। " देवमिवाचार्यमुपा-

सीत" अर्थात् आचार्य की देवता के समान उपासना करे, उस प्रमाणानुसार अपने आचार्य का देवभाव से वर्णन किया है। इतना ही वहाँ कहना चाहिये, ऐसा न कर के श्रीवरवरमुनिस्वामीजी सुवर्णमय पलङ्ग में खूब मुलायम ऊँची गद्दी पर सोते थे, अत्तर फुलेल आदि सुगन्धिद्रव्यों का उपयोग करते थे, ऐसा मान लेना आचार्य का अपमान करना होगा। जो बात शास्त्रनिषिद्ध है उस को ऐसे महान आचार्य कैसे कर सक्ते है। थोडी देर के लिये हम मान भी लें कि श्रीवरवरमुनिस्वामीजी का अनुष्ठान इसी प्रकार का था, फिर भी उस का अनुसरण करना अन्यान्य सन्न्यासियों के लिये योग्य न होगा। यह बात धर्मशास्त्र मे ही कही गयी है—

"दृष्टो धर्मव्यतिक्रमस्साहसं च पूर्वेषाम्।
तेषा तेजोविशेषेण प्रत्यवायो न विद्यते।
तदन्वीक्ष्य प्रयुञ्जानस्सीदत्यवरजो जनः॥"

(आपस्तब)

अर्थात् पूर्वजों में कुछ लोगों ने धर्मव्यतिक्रम किया है और कुछ लोगों ने साहस का काम किया है, वे लोग तेजस्वी थे, अतएव तेजोविशेष के कारण उन लोगों को प्रत्यवाय नहीं हुआ, किन्तु, पीछे से कोई यदि उस को देख कर उसी प्रकार का कार्य करेगा तो अवश्य पापभागी हो कर दुःख भोगेगा। महान् पुरुषों के सदाचरणो का ही अनुसरण किया जा सक्ता है, दुराचरणों का नही। यह बात वेद में स्पष्ट कही गई है—

"यान्यस्माकꣳ सुचरितानि, तानि त्वयोपास्यानि, नो इतराणि।"

यह सब हम "तुष्यतु दुर्जनः" न्याय से अभ्युपगम्यवाद कर रहे है, वास्तव मे हमारे अभिप्राय में श्रीवरवरमुनिस्वामीजी सौवर्ण पर्यङ्क पर बैठते नहीं थे, उत्तर दिनचर्या का वह श्लोक स्तुतिमात्र है।

कविलोग अतिशयोक्ति का जब अवलम्बन करते है, तब उस की सीमा ही नहीं रहती। श्रीरामायण मे अयोध्या का वर्णन करते हुए श्रीवाल्मीकिजी ने कहा है " प्रासादै रत्नविकृतै " तो क्या सभी प्रासाद रत्नमय थे? विश्वगुणादर्श में काशी का वर्णन करते हुए कवि ने कहा है—

" काशी सकाशीभवदिन्द्रग्रेहसौधाग्रभागा। "

तो क्या काशी के मकान के समीप में इन्द्र का मकान आ गया था? कवि लोग अपनी कविता में क्या नहीं कह सक्ते? वह सब बात सची हो, यह मान्य नहीं हो सक्ता। उसी प्रकार दिनचर्या में भी कवि ने कनकपर्यङ्क का वर्णन किया है।

अब हम शास्त्र की बात लिखते हैं। सन्न्यासियों को स्वर्ण आदि धातु का स्पर्श तक नहीं करना चाहिये, यह शास्त्र सिद्ध विषय है।

परमहंसोपनिषत्—

" सौवर्णादीन्नैव परिग्रहेत्। यस्माद्भिक्षुर्हिरण्यं रसेन दृष्टं च स ब्रह्महा भवेत्। यस्माद्भिक्षुर्हिरण्य रसेन स्पृष्टं च स पौल्कसो भवेत्। यस्माद्भिक्षुर्हिरण्यं रसेन ग्राह्य च स आत्महा भवेत्। तस्माद्भिक्षु–र्हिण्य रसेन न दृष्टं च न स्पृष्टं च न ग्राह्य च। "

[यतिधर्म सग्रहः पृ १०४]

हिरण्य अर्थात् सुवर्ण को प्रेम के साथ देखनेवाला यति ब्रह्महत्या समान पापभागी होगा, हिरण्य को प्रेम से स्पर्श करनेवाला यति पुल्कस के समान होगा, हिरण्य को प्रेम के साथ ग्रहण करनेवाला यति आत्महत्या पाप का भागी होगा, अतएव यति हिरण्य का प्रेम के साथ दर्शन स्पर्शन ग्रहण वर्जित करे। यह इस श्रुति का अर्थ है। सुवर्ण की बात दूर रही, रेशमी वस्त्र तथा शाल का स्पर्श भी सन्न्यासी के लिये वर्जित है। देखिये यतिधर्म संग्रह १०९ के पृष्ट में यह वचन उद्धृत है—

" ऊर्णाकीटोद्भव वस्त्रं कस्तूरी रोचनं तथा ।
वर्जनीयं प्रयत्नेन स्पृष्ट्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥
ग्राह्यं कार्पासजं वस्त्रं कषायाक्तमयाचितम् ।
अन्यद्वस्त्रं त्यजेद्योगी यदीच्छेदात्मनोहितम् ॥ "

ऊर्णावस्त्र ग्रहण न करने के विषय में और भी कई वचन है, एक दो नीचे देते है—

" कार्पासोद्भवकाषायं वस्त्रं ग्राह्यमयाचितम् ।
कन्था कौपीनवासस्तु तेन कार्यं न दुष्यति ॥
अन्यद्वस्त्रं यदा लौल्याद्गृहीत्वोर्णा पटादिकम् ।
तेन पापेन च यतिः स्वधर्मात्प्रच्युतो भवेत् ॥ "

[यतिधर्म सग्रहे—जाबालः पृ ११०]

" ऊर्णा तु रोमसम्भूता कृमेर्मल्युतं पटः ।
कस्तूरी रोचन रक्त प्राण्यङ्गमस्थिसन्निभम् ।
एतान्स्पृष्ट्वा प्रमादेन स्वधर्माच्च्यवते यतिः ॥ "

[यतिधर्म सग्रहे कात्यायनः पृ–१११]

स्वर्ण का स्पर्श, रेशमी और ऊर्णावस्त्र का स्पर्श यति के लिये प्रत्यवायकारी है, यह हम बता चुके । अब वाहन में बैठने और पर्यङ्क में सोने के विषय में भी जो वचन है वह हम लिखते हैं ।

" **मञ्चकं** शुक्लवस्त्रं च स्त्री कथा लौल्यमेव च ।
दिवास्वापं च **यानं** च यतीनां पतनानि षट् ॥ "

[पराशरस्मृति व्याख्यायां माधवीयायां सन्न्यासप्रकरण]

कण्वः ।

" रात्र्यध्वानं च यानं च स्त्रीकथा लौल्यमेव च ।
मञ्चकं शुक्लवस्त्रं च यतीनां पतनानिषट् ॥ "

[यतिधर्म समुच्चये मेधातिथिः पृ–९६]

खास पालकी का निषेध निम्न वचन में है—

" सामर्थ्ये शिबिकानश्व गज वृषभमेव च ।
शकटं वा रथं वापि समारुह्य च कामन. ॥
व्रत सान्तपन कुर्यात्प्राणायामगतान्वितम् ।
असामर्थ्ये समारुह्य यानं पूर्वोदित पुनः ।
कृच्छ्रैकं शोधनं तत्र प्राणायामाम्त्वकामन ॥ "

[यतिधर्म संग्रहे वायुपुराणे पृ—१२०]

शक्तिदशा में तथा अशक्ति दशा म पालकी आदि वाहनों में चढना यतियों के लिये पापकर्म है, इस पापकर्म क करने पर प्रायश्चित्त करना पडता है । इस प्रकार के अनेक धर्मशास्त्रवचन उद्धृत किये जा सक्ते है । ऐसे पापकर्म को श्रीवरवरमुनिस्वामीजी का दृष्टान्त दे कर पुण्यकर्म करार देना असम्भव है ।

श्रीरामानुजस्वामीजी भूतपुरी आदि स्थानों में सोने के वाहनों में बिठाये जाते है, उन को कुण्डल आदि धारण कराया जाता है। यह प्र-माण शरणजी सफाई मे देते है, यह देख कर हमें तो आश्चर्य हुआ । भूतपुरी आदि स्थानों अर्चारूपी रामानुजस्वामीजी वाहन पर बिठाये जाते है, उन को भूषण धारण कराया जाता है, तो क्या वर्तमान तोताद्रि-स्वामी भी अर्चारूपी है । श्रीरामानुज शेषावतार थे, जगदुद्धार कार्य कर के वे वैकुण्ठ पधार गये, अब हम लोग उन की प्रतिमा स्थापन कर के उन का उत्सव करते है । यह दृष्टान्त एक साधारण-मनुष्य सन्न्या-सी के लिये कुछ भी उपयुक्त नहीं है । श्रीरामानुजस्वामीजी विभवावस्था में वाहन में बैठे थे इस का कोई प्रमाण नही है । हो तो शरणजी उ-ल्लेख करें । अर्चारूपी श्रीरामानुजस्वामीजी वाहन पर विराजते है, तुम्हारे तोताद्रिस्वामी भी वाहन पर बैठते है । तब अर्चारूपी रामानुजस्वामी को

चन्दनाभिषेक होता है, पुष्पालङ्कार होता है, रोज पाँचवार भोग लगते है, उन के सामने दासियाँ नाचती है. वर्तमान तोताद्रिस्वामी भी यह सब करें । पोलकार का यह सब लेख केवल परिहासयोग्य है,

जालियों की पोल—पेराग्राफ १३—

(१३) जालीजी लिखते हैं कि (उन का रुल का उत्तर न देने से अन्यान्य गद्दीवाले ही अब जगद्गुरु बनेंगे) तोताद्रि स्वामीजी तो सनातन से जगद्गुरु बने बनाये है । आगे अन्य लोग भी बन सकें तो हमें बडी प्रसन्नता है । इतना मे अवश्य कहूंगा कि जगदगुरु शब्द के दो अर्थ है । १–(जगतांगुरु) इस तत्पुरुष समास से जो अर्थ निकलता है, संसार भर के गुरु, सो श्रीतोताद्रिस्वामी जी है । २–(जगद्गुरुर्यस्य) इस बहुव्रीहि समास से जो अर्थ होता है कि समस्त संसार जिन के गुरु हों अर्थात् संसार भर चेला ऐसा जगद्गुरु आप जिस को चाहै उस को बना दीजिये ।

मै पूछता हूं दक्षिण देश मे आज तक एक शूद्र भी आप लोगों का चेला है । श्रीतोताद्रि स्वामी की कृपा से उत्तर देश में कुछ वैश्य चेला होने लगे, बस इतना ही में किराये के छडी छत्र लेकर जगद्गुरु का नाच नाचना क्या बहुरूपियों का काम नहीं है ? मालूम होता है कि बृन्दावन रङ्गाचारी के समय में भी इन लोगों के कुल में कोई जगद्गुरु बनने की धृष्टता नहीं करते थे । नहीं तो श्रीरङ्गाचारी को अपना मन्दिर को दिव्यदेश कराने के लिये ६ मास तक तोताद्रि में पडे२ प्रार्थना नहीं करने पडती, न लाखों रुपया खर्च भी करना पडता । नवीन जगद्गुरु के पास में एक कार्ड भेजते ही दयालुलोग झोली लटकाते माल गाडी में सवार होजाते और ५) ही रुपया में, (त्वमेव माताच पिता त्वमेव भी कहते) अब मै नवीन जगद्गुरु को दण्डौत करता हूँ । कृपया पूर्व पते से ही उत्तर दीजियेगा ।

आप का—

अनन्तशरणदास

रुधौली (फैजाबाद)

परीक्षा—तोताद्रिस्वामी कब से जगद्गुरु बने है, यह बात पूर्व मे लिखी जा चुकी है । पूछनेवाला कोई नहीं तो वे सनातन से बतावें या सदातन से, इस मे क्या आश्चर्य है । सन् १९१६ के बाद

तोताद्रिस्वामी को कुछ लोगों ने जगद्गुरु लिखना प्रारम्भ किया है, यह बात समझनेवाले समझते है । झूठी गप्पाष्टकों मे होना ही क्या है । उन के पास कोई प्रमाण ऐसा हो जिस से मालूम हो कि सन् १९१४ के पहले तोताद्रिस्वामी को जगद्गुरु लिखा जाता था तो उस प्रमाण को बाहर लाकर धरें तब इन का पोल खुल जायगा । "त्व शुण्ठस्त्वं शुण्ठः" न्याय से हम भी वही बात तोताद्रिस्वामी के लिये भी लिख दें कि जगद्गुरु शब्द का बहुव्रीहि समासलभ्यार्थ तोताद्रिस्वामी में ही घटता है, तो हमारा हाथ पकडनेवाला कौन है ? परन्तु हम वृथा बकवाद करना नहीं चाहते, सत्य बात ही लिखना चाहते है ।

श्रीतोताद्रिस्वामीजी के श्रीमुख पत्र का फारम जो सन् १९१५ के पूर्व का है, बहुत लोगों के पास मिलेंगे, इन में से एक में भी जगद्गुरु पद कोई दिखला दे तो हम मान ले कि सनातन से उन के यहाँ यह प्रयोग होता आ रहा है ।

अनन्तशरणजी कहते है कि दक्षिण देश में तोताद्रिस्वामी के शूद्र शिष्य बहुत है और आचार्यों के नहीं, इस कारण से तोताद्रिस्वामी जगद्गुरु है । शूद्रों का गुरु होना ही यदि जगद्गुरुत्व है तो, मै कहता हूँ कि ऐसा जगद्गुरुत्व तोताद्रिस्वामी को ही मुबारक हो । शरणजी पूछते है --" दक्षिण देश मे आज तक एक शूद्र भी आप लोगों का चेला है ! " शरणजी का यह प्रश्न विद्वानों को हास्यकारक अवश्य होगा । मै समझता हूँ यह जगद्गुरुत्व की व्याख्या है । जगद्गुरु बनने के लिये कम से कम एक भी शूद्र शिष्य करना होगा, और वह भी दक्षिण देश में, अच्छी व्याख्या है । मै समझता हूँ—हम इस बात को स्वीकार कर लें कि श्रीप्रतिवादिभयङ्कराचार्य को शूद्र शिष्य नहीं है—यह उत्तम होगा, क्यों कि शास्त्रों मे आचार्यों के लिये शूद्र शिष्य न

करने की ही आज्ञा है। शाण्डिल्यस्मृति अध्याय १ में आचार्यलक्षण बताते हुए यों कहा है—

" अशूद्रशिष्य शूद्राणां ज्ञानदानेष्वनादृतम् ।
अक्रोधनमनुत्सिक्तमविषण्ण विपत्स्वपि ॥१०६॥ "

अर्थात् जिन के शूद्र शिष्य नही हो. जो शूद्रों को ज्ञान देने में आदर न करता हो, जो क्रोधी नहीं हो, गर्विष्ठ नही हो, आपदाओं में भी दुःखित नहीं होता हो, इत्यादि गुणों से युक्त आचार्य का वरण करना चाहिये। शास्त्र का सिद्धान्त ऐसा है, परन्तु अनन्तशरणजी कहते है कि जिन का एक भी शूद्र शिष्य नही हो वह जगद्गुरु कैसे बन सक्ता है। ठीक है, ऐसा जगद्गुरुत्व श्रीतोताद्रिवालों को ही रहे तो हमें कोई आपत्ति नहीं है।

अनन्तशरणजी कहते है कि कुछ वैश्य लोग श्रीप्रतिवादिभयङ्कराचार्य के शिष्य है। ठीक है, वैश्य लोग श्रीप्रतिवादिभयङ्कराचार्य के शिष्य है—यह क्या बुरी बात है! वैश्य तो शायद श्रीतोताद्रिस्वामी के भी शिष्य होंगे। क्या अनन्तशरणजी शूद्रों की अपेक्षा वैश्यों को निहीन समझते है? आश्चर्य की बात तो यह है कि अनन्तशरणजी के सिद्धान्त में जिन के शिष्य वैश्य हो वे तो जगद्गुरु नहीं हो सक्ते, किन्तु जिन के शिष्य शूद्र हों वे ही जगद्गुरु हो सक्ते है।

वृन्दावन के श्रीरङ्गाचार्यस्वामीजी ने श्रीतोताद्रिस्वामीजी को लाखों रूपये दिलाये, यह ठीक है, परन्तु क्यों? और किस प्रकार से; यह हम पहले बता चुके है, दुबारा लिखने की आवश्यकता नहीं।

वृन्दावन के मन्दिर की प्रतिष्ठा सवत् १९०७ में हुई थी। उस के पूर्व ही श्रीप्रतिवादिभयङ्कर श्रीअनन्तमहाराज का वैकुण्ठवास हो चुका था। उन के अनन्तर जो श्रीनिवासाचार्यस्वामीजी गद्दी पर आये थे उन

का भी परमपदवास हो चुका था । उन के बाद वेदान्ताचार्यस्वामी और रामानुजाचार्यस्वामी क्रम से गद्दीनशीन हुए थे. वे दोनों ही अल्पकाल में ही परमपदवासी हो गये। श्रीरामानुजाचार्यस्वामीजी के बाद श्रीकृष्णाचार्यस्वामीजी बाल्यावस्था में थे । हमारी समझ में इसी कारण से श्रीप्रतिवादिभयङ्कर गद्दी के कोई वृन्दावन नहीं पधराये गये होंगे ।

श्रीतोताद्रिस्वामीजी को किसी नये मन्दिर में तीर्थ ग्रहण करने के लिये अधिक द्रव्य देना नहीं पडता. यह वात तैलङ्ग देश में जा कर पूछने से स्पष्ट माल्लूम हो जायगा । ११६) नूटपदहारु भेट ले कर श्रीतोताद्रिस्वामीजी जिन मन्दिरों में आन्ध्रो के हात का तीर्थ ले चुके है, ऐसे ग्राम–देवालय तैलङ्ग देश में पाँचसात जरूर मिलेंगे यह वात अन्य आचार्य पुरुषों के विषय में नहीं घट सक्ती । अन्य आचार्य पुरुष तो शोच विचार कर योग्यस्थल में ही तीर्थ लेते है ।

केशवप्रपन्नरामानुजदास ।

——.o:——

शुभचिन्तक रीवां।
३-६-१६

॥ प्रेरित पत्र ॥

(पत्र प्रेरकों के मत के लिये सम्पादक उत्तरदाता नही है।)

श्रीरामानुज सम्प्रदाय के दो आचार्य चरण आज कल उत्तरभारत की यात्रा कर रहे हैं। पहले पहल तीन वर्ष पूर्व श्री १००८ श्री तोताद्रि मठ के आचार्य चरणो ने लोककल्याण की कामना से श्रीबद्री-नारायण की यात्रा का समारम्भ किया था। आप सन्न्यासी है अतः मर्यादानुकूल आप रेल आदि में यात्रा नही कर सक्ते। पैदल ही यात्रा करते हैं। २५००।३०० मनुष्य और हाथी, ऊँट, घोडे, बैल, गौएँ, बग्घियें आदि अनेकों आप के साथ है। आप यात्रा करते जब श्रीबद्री-नारायण तक पहुच चुके थे कि एक दूसरे आचार्य चरण जो प्रतिवादि-भयङ्करवश के रत्न है यात्रर्थ प्रास्थित हुए। आप की यात्रा किसी तीर्थ यात्रा के लिये नही है बतौर पर्यटन के उन की यह यात्रा हुई है। अस्तु यात्रा किसी इच्छा से भी हुई हो। दोनों आचार्यचरणों का यह भ्रमण कल्याणकर है इस में सन्देह नही। परोत्कर्षा सहिष्णुता या परकीर्ति श्रवणोपेक्षा बहुत ही बुरी वस्तु है। इस सम्प्रदाय में भी इस का प्रवेश देख कर क्लेश होता है। रामानुज सम्प्रदाय के सभी पीठों में श्रीतोताद्रि पीठ प्रधान और प्रथम परगणित है इस सम्प्रदाय के आठ पीठो मे सब से प्रथम श्रीतोताद्रि पीठ की परिगणना होती है और कदाचित् पाँचवें नम्बर पर काञ्ची के श्रीप्रतिवादिभयङ्करपीठ की। आठों गद्दियों में तीन सन्न्यासियों की और पाञ्च गृहस्थों की है। इन में चार गृहस्थों की गद्दियाँ नाममात्रावशिष्ट सी है। दक्षिणदेश में जहाँ ये आठों गद्दियॉ है श्रीतोताद्रिगद्दी ही सब से बडी मानी जाती है। पर कुछ लोगों ने इधर काञ्ची की गद्दी को प्रधान प्रसिद्ध कर दिया है। ऐसा करने से सम्प्रदायिक इतिहास का नाश होता है और ससार धोखे मे आता है

साम्प्रदायिक इतिहास मे सर्व प्रकार से श्रीतोताद्रिपीठ ही सब में प्रधान पाया जाता है। इस के अनेक पुष्ट, प्रबल प्रमाण दिये जा सक्ते है। हिन्दी प्रेमी गण देख सक्ते है कि भारत भ्रमण मे भी जो ख. वा. साधुचरण प्रसाद ने बहुत ही खोज के साथ लिखा है श्रीतोताद्रिगद्दी ही को प्रधान लिखा है। इस में सन्देह नही जिस प्रकार साम्प्रदाय के विषय मे इस तरह की धींगा धींगी हॉक दी जाती है उसी तरह दक्षिण में भी यदि कोई काञ्ची को प्रधान लिख दे तो अदालत के द्वारा जवाब माँगने को वहाँ के लोग तैयार होगे। अपने आचार्य चरणो की प्रशसा करना बुरा नही है किन्तु स्वार्थवश सत्य का अपलाप करना बहुत ही बुरा है। सन्न्यासियो से बढ कर गृहस्थाश्रमी कभी नहीं हो सक्त इसे सभी सनातनधर्मावलम्बी स्वीकार करते हैं। फिर तोताद्रि की गद्दी से जिस पर सन्न्यासी ही अधिष्ठित होते है, काञ्ची के गृहस्थाचार्य कभी बडे नही हो सक्ते। और सम्प्रदायिक मर्यादानुकूल श्रीतोताद्रि गद्दी के आचार्य चरणों के समक्ष और पीठस्थ आसन पर भी नहीं बैठ सक्ते। यह मर्यादा अब भी विद्यमान है। गद्दियों के इतिहासों में और अनेकों ग्रन्थों मे श्रीतोताद्रिपीठ का माहात्म्य प्रकाशित है। श्रीकाञ्ची का पीठ भी आठ दिग्गजों में से एक है। जिन श्रीमदाचार्य चरणो को श्रीप्रतिवादिभयङ्कर की उपाधि विद्वानो द्वारा प्राप्त हुई थी उन्ही के वश मे से वर्तमान श्री १००८ श्रीस्वामी अनन्ताचार्यजी महाराज है। प्रतिवादिभयङ्करजी का वश वर्तमानकाल में बहुत ही विस्तृतरूप में है सौ सवा सौ घर इस वंश के बतलाये जाते है और वे सभी अपने को काञ्चीपीठस्थ कहते हे और अपने नाम के साथ प्रतिवादिभयङ्कर जोडते है पर संसार में एक वश के सभी लोग धनी नहीं होते। प्रशसित आचार्यचरण श्रीअनन्ताचार्य इस वंश में धनी होने के कारण और अतएव उत्तरदेश में आते जाते रहने के कारण विशेष प्रसिद्ध हो गये है। और इधर ये ही काञ्ची के प्रतिवादिभयङ्कर गद्दी के प्रधान माने जाते हैं। काञ्ची मे क्या दक्षिण देश भर में इन के शिष्य उतने ही है जितने और वंशधरों के। हाँ, श्रीअनन्ताचार्य तथा इन के पूज्यचरण पिताजी श्रीकृष्णाचार्यजी के उ-

त्तर देश में भ्रमण करने के कारण उत्तर में श्रीवैष्णव धर्म के प्रचार का श्रेय बहुत कुछ इसी वंश को है। एतदर्थ श्रीवैष्णव मात्र को इन का कृतज्ञ होना चाहिये। काञ्ची में प्रतिवादिभयङ्कर गद्दी के शिष्य नाम मात्र को हैं क्यों कि, वहाँ वडहलों की प्रधानता है तिङ्गलों की नहीं श्रीअनन्ताचार्यजी का जहाँ घर है उस के चारों तरफ वडगल ही बसते हैं। काञ्ची में वहाँ इन के अधीनस्थ कोई मन्दिर भी नहीं है। श्रीवरदराज भगवान् का मन्दिर वडहल आचार्यों के हाथ में है। ये आचार्य वहाँ प्रसिद्ध धनिकों, श्रीमानों में से एक है। आपने हाल ही में एक छोटा सा मन्दिर भी बनवाया है। कुछ लोग इन्हीं आचार्य चरणों को श्रीतोताद्रि स्वामीजी के अनुसार श्रीकाञ्ची प्रतिवादिभयङ्कर मठाधीश्वर नाम से प्रसिद्ध करते हैं। वे बडी भारी भूल करते हैं। मठ सन्न्यासियों के होते हैं गृहस्थों के नहीं श्रीतोताद्रिस्वामी चरण सन्न्यासी हैं अतः उन के स्थान को मठ कहते हैं पर इन लेखकों को तो श्रीतोताद्रिस्वामीजी से मुकाबिला करना है उचितानुचित का विचार कौन करे। वे लोग आचार्य चरणों की मर्यादा का बिलकुल ज्ञान नहीं रखते, और न सही स्वयं गद्दी स्वामी से ही वे पूछें तो विदित होगा कि, वे भी श्रीतोताद्रिस्वामीजी को बड़े मानते होंगे क्यों कि वे साम्प्रदायिक मर्यादा का विध्वस करना पसन्द नहीं करते। इन पङ्क्तियों का लेखक भी वैष्णव ही है। साम्प्रदायिकमर्यादा का नाश हो तथा आचार्यों में परस्पर मन मुटाव न हो इसी लिये अनेकों बातों में से दो एक बातें ऊपर प्रगट कर दी है। इन में किसी प्रकार भी ईर्ष्या का समावेश नहीं है। आशा है श्रीवैष्णव लेखक इन बातों से अपनी भूल सुधारेंगे। यदि इन नोटों से उन का सन्देह दूर न हुआ तो फिर विस्तृत इतिहास और मर्यादा शैली प्रकाशित करने का उद्योग करेंगे। ये बातें है " फरिश्तों " की

न इन में भूल बिलकुल है। " फरिस्ता "

⁂—०—⁂

"प्रधानत्व" पर विचार ।

फ़रिश्ता के कुतर्कों का समाधान ।

कुछ दिन हुए "शुभचिन्तक" के एक अंक में प्रेरितस्तम्भ में, सम्पादक ने उस लेख की जिम्मेदारी छोड कर, फरिश्ते का भेजा, एक लेख छापा था । फरिश्ते का जामा पहिने एक वैष्णव दास ने अपने उस लेख में, दूसरे लोगों पर परोत्कर्ष-असहिष्णुता, स्वार्थपरता, परकीर्ति-श्रवणोपेक्षा इत्यादि गुणों को आरोपित किया है । इस लेख में हम यह दिखाना चाहते है कि ये सब गुण उक्त पत्र के लेखक ही में हैं, और इन ही गुणों के कारण उन्हों ने अपने पत्र में बिना समझे बूझे और बिना तत्व निर्धारण किये यथेच्छ भ्रमवश कई बातें को लिख मारा है ।

फरिश्ते का कहना है कि "पहले पहल तीन वर्ष पूर्व श्री १००८ श्रीतोताद्रिमठ के आचार्य चरणों ने लोककल्याण की कामना से श्री बद्रीनारायण की यात्रा का समारम्भ किया था" इसमें पहले पहल का अर्थ हमारी समझ में नहीं आया, और बातों में हमारी विप्रतिपत्ति नहीं है । यदि पहले पहल शब्द से मतलब श्री १००८ श्रीप्रतिवादिभयङ्कर-पीठाधीश आचार्य चरणों के यात्रारम्भ के पूर्व काल का है, तब कहना पडेगा कि इसमें फ़रिश्ता महाशय भूल कर रहे हैं । इसका खुलासा हम आगे करेंगे ।

"फ़रिश्ता" कहता है कि—आप संन्यासी है अतः मर्यादानुकूल आप रेल आदि में यात्रा नहीं कर सक्ते । पैदल ही यात्रा करते है ।" इस पर हमको यह पूछना है कि जो संन्यासी हैं, वे रेल आदि में यात्रा न करें—यह मर्यादा किसी शास्त्र के आधार से बनी है, या किसी दृष्ट दोष की सम्भावना के कारण बनाई गई है ? शास्त्र में तो रेल का नाम ही नहीं मिलता, तब संन्यासियों को रेल यात्रा से रोकने वाला शास्त्रीय वचन मिलने की सम्भावना नहीं है । दृष्ट दोष रेल यात्रा के सिवाय

अन्य प्रकार के वाहनों में भी कई सम्भावित है। अन्य सम्प्रदाय के कई आचार्य संन्यासी होकर भी रेल-यात्रा करते देखे गये है, शास्त्र-निषेध होता तो पुरी के श्रीशंकराचार्य आदि रेल-यात्रा कभी नहीं करते। शायद "फरिश्ते" को मालूम नहीं कि द्राविड देश में कई वैदिक गृहस्थ ऐसे है, जो रेल-यात्रा कभी नहीं करते। इससे यह सिद्ध होगा कि संन्यासाश्रम और रेल-यात्रा वर्जन में कोई सम्बन्ध नहीं है, जिसको रेल यात्रा में सम्भावित असुविधाओं से बचने की इच्छा है वही रेल यात्रा को छोडता है। आश्चर्य तो यह है कि जिस रेल यात्रा में शास्त्रीय निषेध नहीं उसको तो संन्यासियों ने छोड दिया और जिस नरवाहन आदि का खास निषेध है उसको स्वीकार कर रक्खा है! "फरिश्ता" महाशय के "पैदल" शब्द का अर्थ क्या है? जिन आचर्य-चरणों के पैदल यात्रा करने की बात "फरिश्ता" लिख रहा है, वे एक माइल भी पैदल चले हों, हमें विश्वास नहीं होता। यदि पैदल शब्द का, उन भोई लोगों से जो पालकी और म्याना उठाते है और जिस पर आचार्य-चरण बैठ कर चलते है, पाद से सम्बन्ध हो, तो हम कहेंगे कि ऐसी पैदल यात्रा करने वाले भोई लोग ही हैं, आचार्य नहीं। जहाँ तक मालूम हुआ है वर्तमान समय में अहोबल मठ के एक ही आचार्य ने जिनका पूर्वाश्रम नाम श्रीगोपालाचार्यजी था, संन्यासाश्रम की मर्यादा का पालन करते हुए पैदल यात्रा की। यद्यपि उनके साथ पीछे पीछे पालकी चलती थी, तथापि वे उसमें बैठते न थे। पैदल यात्रा का अभिमान श्रीवैष्णव सम्प्रदाय के कोई संन्यासी कर सक्ते थे तो वे ही। श्रीवैष्णव सम्प्रदाय के वर्तमान मठाधिपति सन्यसी मात्र ही यानारोही होने के दोष भागी हैं। "यानारूढ यतिं दृष्ट्वा सचेलस्नानं माचरत्॥" इस वचन से यति (संन्यासियों) का यानारोहण में दोष प्रतीत होता है। बात यह है कि यह दोष सभी सम्प्रदाय के मठाधिपति सन्यासियों में है। अतएव एक दूसरे को दोषी नहीं बता सक्ता, इसी कारण से कोई कुछ बोलता नहीं; अन्यथा यह शास्त्र-विरुद्ध

प्रथा कभी नहीं चलती। इन मठाधिपति सन्न्यासियों के पास और तो कुछ समाधान है नहीं उनका कहना यह होता है कि शिष्योज्जीवनार्थ हम यानारोहण करते हैं। अर्थात् यह दोष नहीं माना जाना चाहिये। परन्तु शास्त्रों ने जैसा दोष-विशेष को विषय-विशेष में सङ्कोचित किया है, जैसा कि अनृत वचन का ब्राह्मण प्राणरक्षादि के विषय में, वैसी यहाँ शास्त्र में कोई व्यवस्था नहीं पाई जाती, "पञ्चानृतान्याहुरपातकानि" इत्यादि वचनों में पांच विषयों में अनृत वचन को अपातक कहा है। यहां पर ऐसा वचन कोई नहीं दीखता। प्राचीन काल में श्रीवैष्णव सम्प्रदाय के किसी संन्यासी आचार्य के यानरोहण करने की बात किसी भी सम्प्रदायिक इतिहासग्रन्थों में पायी नहीं जाती। भगवान् यामुनाचार्य, भगवान् रामानुजाचार्य, भगवान् वरवर मुनि इत्यादि आचार्यों ने लम्बी लम्बी यात्राएं की है, परन्तु पालकी वा अन्य किसी वाहन में चढ़ कर नहीं। वर्तमान समय के सन्न्यासी ही नरवाहन आदि यानों में चढ़ कर यात्रा करते हैं। संन्यासियों को वाहनमात्र में चढ़ना मना है न कि रेल मात्र में। यानारोहणनिषेध के कारण पर विचार किया जाय तो नरवाहना-रोहण से रेलयात्रा उत्तम सिद्ध होगी। क्योंकि नरवाहनारोहण में वाहकों का पीडन होता है और प्राणिमात्र को कष्ट देना संन्यासियों को अनुचित है, रेलयात्रा में साक्षात् प्राणिपीडन नहीं होता। अस्तु, हमको इन बातों से कोई प्रयोजन नहीं है। केवल इतना ही दिखाना है कि सन्न्यासाश्रम और रेलयात्रा-वर्जन का कोई सम्बन्ध नहीं है, रेलयात्रा में आचार विचार का ठीक प्रतिपालन नहीं हो सक्ता; साथ ही धर्मरक्षा में और भी कई प्रकार की बाधाएं पड़ती है। इन असुविधाओं से जिनको बचने की इच्छा है, वे चाहे संन्यासी हों या अन्य आश्रम के, रेलयात्रा परित्याग करते है।

फरिश्ता लिखता है—"२५००।३०० मनुष्य और हाथी, ऊँट, घोड़े, बैल, गौएँ, बग्घियाँ आदि अनेकों आपके साथ है।" इसमें

मनुष्यों की सख्या पचीस सौ तीन सौ बताई गयी है, परन्तु लोक व्यवहार में इस प्रकार परस्पर विप्रकृष्ट सख्याओं का वैकल्पिक प्रयोग नहीं होता, सन्निहित दो सख्याओं ही का हुआ करता है, जैसा कि पाँच छः, दस बीस। यहाँ पाच छ. का अर्थ पाँच या छ. है, दसबीस का अर्थ दस वा बीस है। हजार दस हजार, हजार एक लाख इत्यादि के प्रयोग नहीं होते। फ़रिश्ता ने जान बूझकर ऐसा लिखा है, या पहली संख्या में एक सिफ़र भूल से ज्यादा पड गया है, मालूम नहीं। यदि जानबूझ कर ही ऐसा लिखा हो तब तो कहना पडेगा कि फ़रिश्ता जी ने सिफर लगाने में बडी भारी कृपणता दिखाई है। दो एक बिन्दु और लगा देते तो स्वार्थ-सिद्धि और अच्छी तरह होती! अभी तो पाठकों को भ्रान्ति कुछ कम ही हुई होगी! अच्छा, २५०० सौ नहीं, हमारी तरफ से पचास हजार मनुष्य और जानवर भी (कई तरह के) आपके स्वामी जी के साथ कई सौ है, पर हम पूछते है इससे "आचार्यचरणों" की क्या महत्ता सिद्ध होगी? आचार्यों का महत्त्व क्या इन जानवरों के सख्याधिक्य से होता है? बैरागी महन्तों की जमात में तो इससे कई गुण अधिक मनुष्य—सख्या होती है, तो क्या उन महन्तों का महत्त्व आपके इन "आचार्यचरणों" से अधिक मानना चाहिये? फ़रिश्ता इन सब बातों को किस मतलब से लिख रहा है?

फरिश्ता एलान करता है—"जब श्रीतोताद्रि के आचार्यचरण यात्रा करते श्री बद्रीनारायण तक पहुंच चुके थे तब दूसरे एक आचार्य अर्थात् श्री प्रतिवादिभयङ्कराचार्य प्रस्थित हुए।" ऐसी झूठी मनगढन्त और सर्व-साधारण को धोखा देने वाली बातें प्रकाशित करते हुए फरिश्ता जी को बिलकुल लज्जा नहीं आई, यही आश्चर्य है। फ़रिश्ता जी! आपके आचार्यचरण जब तोताद्रि से चले भी न थे तभी से श्री प्रतिवादिभयङ्कराचार्य पर्यटन कर रहे हैं। उस समय श्री प्रतिवादिभयङ्कराचार्य जोधपुर, जयपुर, खेतडी और अलवर राज्यों में पर्यटन कर रहे थे।

वेङ्कटेश्वर आदि समाचारपत्रों में इस दौरे का वृत्तान्त प्रकाशित हुआ है। फिर इस पहले और पीछे के झगडे से कौन सी बात सिद्ध होगी ? क्या एक आचार्य यात्रा करें तब दूसरे आचार्य का यात्रा करना पाप है ? यदि ऐसा है तो आपके आचार्य-चरणों को बड़ी कठिनता पड़ेगी।

फरिश्ता का कहना है कि श्रीप्रतिवादिभयङ्कराचार्य की यात्रा तीर्थ यात्रा के लिये नहीं, बतौर पर्यटन के यह यात्रा हुई है। क्या इसमें भी कोई दोष फ़रिश्ता को दिखलाई पड़ता है ? तीर्थयात्रा के लिये जो आचार्य निकले है, वे क्या सीधे तीर्थों पर जा कर ही ठहरे हैं, और कुछ कार्य करते ही नहीं है ? जिनका पर्यटन तीर्थयात्रा के लिये नहीं वे क्या रास्ते में तीर्थ मिलने पर भी दूर भाग जाते है ? हमारी समझ में तो दोनों आचार्य दोनों कर सक्ते है, और करते देखे गये हैं। भगवान् रामानुजा-चार्य आदि पूर्वाचार्यों ने जो यात्राएं की है, वे सभी तीर्थयात्रा के उद्देश्य से नहीं थीं। धर्मोपदेश, सम्प्रदाय-प्रचार, दिग्विजय आदि के उद्देश्य से उन्हों ने यात्राएं की थीं, तो क्या वे यात्राए निद्य है ? वास्तव में देखा जाय तो तीर्थयात्रा के उद्देश्य से जो पर्यटन हो उससे धर्मोपदेशादि के उद्देश्य से जो पर्यटन होता है, वह श्लाघ्य है, क्योंकि तीर्थयात्रा स्वार्थ है, दूसरी में केवल परार्थ है।

फ़रिश्ता महाशय लिखते हैं कि रामानुज सम्प्रदाय के सभी पीठों में श्रीतोताद्रि पीठ प्रधान और प्रथम परिगणित है, इस सम्प्रदाय के आठ पीठों में सब से प्रथम श्रीतोताद्रि पीठ की परिगणना होती है, और कदाचित् पाँचवें नम्बर पर कांची के श्रीप्रतिवादिभयङ्कर पीठ की। यहाँ फरिश्ता महाशय से हम यह पूछना चाहते है कि श्रीतोताद्रि-पीठ रामा-नुज सम्प्रदाय के सभी पीठों में प्रधान किस प्रकार हुआ ? क्या केवल आपके कथन से तथा मानने से प्रधान हो गया ? क्या आपको छोड कर और भी इस प्रकार मानने वाले हैं ? आप यह तो बताइये कि रामानुज

सम्प्रदाय के जो बडहल विभाग के पीठ हैं उनमें भी श्रीतोताद्रिपीठ प्रधान है क्या ? क्या बड़हल विभाग के लोग श्रीतोताद्रिपीठ को प्रधान मानने को तैयार हैं ? रामानुज सम्प्रदाय के बडहल विभाग वाले जब श्रीवरवर मुनिस्वामी जी को ही नहीं मानते है, तब उनके बनाये अष्ट-दिग्गजों के अन्तर्गत आपके तोताद्रिपीठ को वे प्रधान किस प्रकार मानेंगे ? क्या आपने श्रीतोताद्रिपीठ को रामानुज सम्प्रदाय के सभी पीठों में प्रधान लिखते हुए इस बात का भी विचार किया है ? अब रामानुज सम्प्रदाय के तेंगल विभाग ही को लीजिये। उस विभाग के जो पीठ है उनमें श्रीतोताद्रिपीठ किस कारण से प्रधान है यह क्या आप बता सक्ते है ? प्रधानता किसी कारण से होती है, केवल आपके लिखने से न होगी। और इस पीठ को प्रधान बनाया किसने ? इसकी प्रधानता में प्रमाण ही क्या है ? आपके पास श्रीतोताद्रिपीठ की सर्व प्रधानता में यही एक प्रबल प्रमाण हो सक्ता है कि किसी श्लोक में इनका नाम पहले आया है, इसी को लेकर आप प्रथम परिगणित बता रहे है। इस पर हमें यह कहना है कि किसी श्लोक में नाम पहले पड जाने ही से कोई प्रधान नहीं बन सक्ता। प्रथम तो वह श्लोक ही कहाँ का है—इसी का पता नहीं। फिर श्लोक बनाने वाले को शब्दों पर ही विशेष ध्यान रखना पड़ता है, अर्थों पर नहीं। अर्थ के पौर्वापर्यानुसार श्लोक की रचना सर्वत्र हो नहीं सक्ती, यह बात काव्यशास्त्रवेदियों से छिपी नहीं है। और श्लोक में जिस क्रम से नाम आये है, उस क्रम के आधार पर नम्बरवारी मानी जायगी तो प्रधान अप्रधान हो जाँयगे और अप्रधान प्रधान। आप का वह श्लोक शायद यही है।

"वानाद्रियोगिवरवेंकटयोगिवर्यश्रीभट्टनाथपरवादिभयङ्करार्याः ।
रामानुजार्यवरदार्यनतार्तिहारि श्रीदेवराजगुरवोष्टदिशा गजास्ते ।"

देखिये इस श्लोक में देवराज गुरु का नाम कहाँ पडा है, और वरदार्य जो कि कोइलकदाडै अण्णन् कहलाते है उनका नाम कहाँ पड़ा

है? क्या जिस क्रम से उनके नाम पड़े हैं उसी क्रम से उनकी नम्बरवारी है?

संन्यासी होने के कारण तोताद्रिपीठ को सर्व प्रधान कहा जाय तो, यह भी अयुक्त है, क्यों कि प्रथम तो श्रीवैष्णव सम्प्रदाय में आश्रम प्रयुक्त न्यूनाधिक भाव नहीं माना जाता। फिर तैगल सम्प्रदाय में तो आश्रम का गौरव बिलकुल ही नहीं है, गृहस्थ और संन्यासी बराबर माने हैं, यहाँ तो ज्ञान भक्ति वैराग्य आदि का गौरव है। "यति-वन्दन-समर्थन" आदि ग्रन्थों में इस विषय का तत्व मालूम होगा। फिर अष्ट-दिग्गजों में और भी तो सन्यस्त हैं, आश्रम ही से प्रधानता हो तो वे दोनों ही क्यों न प्रधान बनें।

अब आपको कोई दूसरा ही कारण बनाना होगा, जिससे श्रीतोताद्रिपीठ की सर्वप्रधानता सिद्ध हो। श्रीवरवर मुनिस्वामी जी के चरित्र के पढ़ने वालों को श्रीतोताद्रिपीठ की सर्वप्रधानता को सिद्ध करने वाली कोई घटना उस इतिहास में नहीं दीखेगी। श्रीवरवर मुनिस्वामी जी ने आपके श्रीतोताद्रिपीठ को सर्वप्रधानता दी भी नहीं है। भगवान् श्री रामानुजाचार्य और श्रीवरवर मुनिस्वामी जी ने चौहत्तर पीठ और अष्ट-दिग्गज नियत किये हैं, और अपने हजारों शिष्यों में छाँट कर योग्य व्यक्तियों को इन पीठों में बैठाया है, अब विचारना चाहिये कि किन योग्यताओं के कारण इन लोगों को पीठाधिपति बनाया है? एक बार यतीन्द्र-प्रवण-प्रभाव आदि इतिहासों के देखने से इस बात का निश्चय होगा। हम यह नहीं कहते कि तोताद्रिपीठ के मूल पुरुष में विशेष योग्यता नहीं थी, हम स्वीकार करते हैं कि जरूर ही उनमें पीठाधिपति बनने की उपयुक्त योग्यता थी, किन्तु कहना इतना ही है कि उनमें अष्टदिग्गजों में प्रधान माने जाने का कोई कारण नहीं दीखता। श्रीतोताद्रिपीठ के मूलपुरुष

श्रीवरवर मुनिस्वामी जी के शिष्य हुए, और कुछ दिन पश्चात् संन्यस्त भी हुए। श्रीतोताद्रि के मन्दिर का कैङ्कर्य ये करते थे, इसी कारण से ये श्रीवरवर मुनिस्वामी जी की सन्निधि में विशेष रह भी नहीं सके। यहाँ तक कि श्रीवरवर मुनिस्वामी जी की परमपदयात्रा के समय अर्थात् अन्तिम समय में भी ये उनके पास नहीं थे, पीछे से इनको उनके परमपदयात्रा का वृत्तान्त ज्ञात हुआ था, ये ही इनके सम्बन्ध में मुख्य घटनाएँ है। श्रीवरवर मुनिस्वामी जी के समय में श्रीतोताद्रिपीठ के मूल पुरुष ने और क्या विशेष कार्य किया था जिससे इनको प्रधानता मिलती ‘ फरिश्ता जी ! अब आप उस प्रतिवादिभयङ्करपीठ के मूल पुरुष का वृत्तान्त भी सुनिये, जिस पीठ की परिगणना आपकी समझ में कदाचित् पाँचवें नम्बर पर है। प्रथम तो श्रीप्रतिवादिभयङ्करपीठ के मूल पुरुष श्रीरामानुज स्वामी जी के चौहत्तर पीठों में से “श्री मुडुम्बैनम्बि” स्वामी जी के उस वंश में थे, जिस वंश में श्रीकृष्णपाद स्वामी जी, श्रीलोकाचार्य स्वामीजी आदि प्रसिद्ध आचार्यों का अवतार हुआ था। आप श्रीकाचीपुरी में वास करते थे। श्रीवेदान्ताचार्य स्वामीजी के पुत्र श्रीवरदाचार्य स्वामी जी की सन्निधि में आपने श्रीभाष्य का कालक्षेप किया था और उनके ये ज्ञान पुत्र थे। सर्वज्ञमिश्र नामक महाप्रसिद्ध अद्वैतवादी विद्वान् को शास्त्रार्थ में पराजित करने के कारण आपको विद्वन्मण्डली तथा श्रीवरदाचार्य स्वामी जी ने प्रतिवादिभङ्कर की उपाधि से भूषित किया था, जिसका श्रीवरदराज भगवान् ने भी अर्चकमुखेन अनुमोदन किया था। आपके उच्छिष्टान्न के भक्षण से तात्कालिक विजयनगर के महाराज वीर नरसिंहराय हत्यामुक्त हुए थे। आपही ने बड़ी भारी सम्पत्ति को “अर्थसम्पद्विमोहाय” कह कर छोड़ दिया था। श्रीवरवर मुनिस्वामी जी ने आपको पत्र भेज कर परमतनिराकरणार्थ कांची से श्रीरंग बुलाया

था। श्रीरामानुजस्वामीजी की सन्निधि में श्रीकूरेशस्वामीजी को जो स्थान प्राप्त था, श्रीवरवरमुनिस्वामीजी की सन्निधि में वही स्थान आप को प्राप्त था, अर्थात् आप सहायक कहलाते थे। श्रीरामानुजस्वामीजी के दण्ड-काषायस्थानीय श्रीदाशरथि स्वामीजी और कूरेशस्वामीजी थे. यह सब को मालूम है। १०८ दिव्यदेशों के भगवानों के सुप्रभात मङ्गलाशासन प्रपत्ति और स्तोत्र निर्माण करने के लिये आप ही को श्रीवरवरमुनिस्वामीजी ने आज्ञा दी थी। आप ही के बनाये हुए सुप्रभात प्रपत्ति मङ्गलाशासन और स्तोत्र का अद्यापि श्रीवेङ्कटाचल आदि स्थानों में प्रतिदिन प्रातःकाल विश्वरूपदर्शन काल में समस्त श्रीवैष्णव मण्डली भक्तिनम्र हो कर पाठ करती है। तैङ्गल सम्प्रदाय के समस्त दिव्यदेश तथा अन्यान्य देवालयों में प्रतिदिन प्रबन्ध समाप्ति में आप ही के निर्मित श्रीवरवरमुनिविषयक द्राविड मङ्गलाशासन नियम से पढे जाते है, इतना ही नही समस्त तैङ्गल वैष्णव निज गृहों में भी देवपूजा के पश्चात् प्रबन्ध समाप्त करते हुए इन्हीं मङ्गलाशासन—वाक्यों का पाठ करते है। आचार्यपौत्र श्रीअभिरामवर को भाष्य पढाने की आज्ञा श्रीवरवरमुनिस्वामीजी ने आप ही को दी थी। भगवान् श्रीवेङ्कटाद्रीश श्रीनिवास ने छत्र—चामरादि बिरुदावली देकर आप ही को सम्मानित किया, जिस का उल्लेख—

" अलभतचामरयुगलीमनुपचतुरन्तयानकाहल्यौ।
भद्रासनातपत्रे वादिभयङ्कर गुरुर्वृषाद्रीशात्॥ "

इस श्लोक में किया गया है। श्रीवेङ्कटाचल में जब मायावादी ने शास्त्रार्थ का चेलेंज देकर हलचल मचा दी थी, तब श्रीवरवरमुनिस्वामीजी ने आप ही को भेजा था और आप ही ने उस सन्दिग्ध स्थिति में श्रीवैष्णव सम्प्रदाय की मानरक्षा की थी। ये सब वृत्तान्त यतीन्द्र—प्रवणप्रभाव, श्रीवचनभूषणसार, श्रीवादिभीकर विजय " आदि ग्रन्थों में

विस्तार के साथ वर्णित हैं। फरिश्ताजी! ऐसे महिमाशाली श्रीप्रतिवादि-भयङ्कर स्वामीजी के पीठ की गणना पाँचवे नम्बर पर है तो आप के श्रीतोताद्रिपीठ की गणना किस नम्बर पर होनी योग्य है? थोडा विचार तो करिये! आप इस पीठ को सन्न्यस्त पीठ कह कर शायद सब से श्रेष्ठ बनाना चाहते होंगे, हमारे श्रीवैष्णव सम्प्रदाय में सन्न्यास का विशेष महत्त्व नहीं है. इस बात को आप स्मरण रक्खें। हमारी आचार्यपरम्परा में सन्न्यस्त आचार्य कितने है और गृहस्थ कितने है, इस का निर्णय पहिले आप करलें। आचार्यपरम्परा में अधिकाश गृहस्थ ही है, यह सब को ज्ञात है। खास श्रीरामानुजस्वामीजी जब गृहस्थ महापूर्ण स्वामीजी के शिष्य है, तब हम को इस बात को प्रमाणित करने की आवश्यकता नहीं है कि गृहस्थ और सन्न्यस्त तुल्य माने जाते है। अब आप समझ गये होंगे कि श्रीतोताद्रिपीठ प्रधान माना जाना चाहिये या पाँचवें नम्बरवाला पीठ। श्लोक में पदों को घटाने के लिये या और किसी कारण से किसी पुरुष ने अपने बनाये किसी श्लोक में इस आचार्यपीठों को आगे पीछे चाहे जैसे उल्लेख किया हो, इतने ही से प्रधानता वा अप्रधानता सिद्ध नहीं होगी, किन्तु इस का निर्णय इतिहास की घटनाओं पर विचार कर और मूलपुरुषों की योग्यताओं पर ध्यान देकर ही करना पडेगा। अस्तु, इस विषय को हम यही छोडते है।

फरिश्ताजी फर्माते है—" दक्षिण देश में जहाँ ये आठों गद्दियाँ है श्रीतोताद्रि गद्दी ही सब से बडी मानी जाती है, पर कुछ लोगों ने इधर काञ्ची की गद्दी को प्रधान प्रसिद्ध कर दिया है, ऐसा करने से साम्प्रदायिक इतिहास का नाश होता है और संसार धोखे में आता है।" इस पर हमें यहाँ विशेष पिष्टपेषण करने की आवश्यकता नहीं है, क्यों कि ऊपर इसी विषय पर हम ने विचार किया है। श्रीतोताद्रि गद्दी सब

से बडी मानी जाय, इस का कारण कुछ आपने नहीं दिखाया। दक्षिण में यह सब से बडी मानी जाती है, यह बात बिलकुल झूठ है। श्री-काञ्ची की गद्दी प्रधान न भी मानी जाय तो हमारी कोई हानि नहीं, आप सब गद्दियों को समान ही मानें। किन्तु श्रीप्रतिवादिभयङ्करपीठ को प्रधान मानने में कई कारण विद्यमान हैं, यह हम पहिले बता चुके हैं। साम्प्रदायिक किस इतिहास में श्रीतोताद्रि गद्दी की प्रधानता का प्रमाण है ? किस इतिहास का नाम होता है ? और क्या होता है ? यह आप ने बताया ही नहीं। यदि किसी साम्प्रदायिक इतिहास में आप की तोताद्रि गद्दी की प्रधानता का कुछ भी प्रमाण होता तो आप उन इतिहासों का नामोल्लेख क्यों नहीं करते ? आप ने, साम्प्रदायिक इति-हास से सर्वप्रकार से श्रीतोताद्रिपीठ ही सब से प्रधान पाया जाता है। "इस के अनेक पुष्ट प्रबल प्रमाण दिये जा सक्ते हैं।" ऐसी प्रतिज्ञा तो कर दी, किन्तु एक भी ऐसे इतिहास का नाम नहीं लिया और न कोई प्रमाण ही दिया। यदि प्राचीन इतिहास से यह बात सिद्ध होती तो आप उन इतिहासों का उल्लेख न कर के भारत भ्रमण का उल्लेख क्यों करते ? क्या कल का बना भारतभ्रमण ही इतिहास है ? उस के कर्ता एक पर्यटक थे, उन्हों ने श्रीतोताद्रिमठ में जा पूछा होगा, मठवालों ने सर्वप्रधान बता दिया होगा, उसी को उन्हों ने लिख दिया है। भारतभ्रमण के आधार पर सैकडों वर्षों के पहले की किसी बात को सिद्ध करने का यत्न करना फरिश्ताजी ही को शोभा देगा, और लोग ऐसा साहस नहीं कर सक्ते।

आगे फरिश्ताजी लिखते हैं—" इस में सन्देह नहीं, जिस प्र-कार सम्प्रदाय के विषय में इस तरह की धींगाधींगी हॉक दी जाती है उसी तरह दक्षिण में भी यदि कोई काञ्ची गद्दी को प्रधान लिख दे तो

अदालत के द्वारा जवाब माँगने को वहाँ के लोग तैयार होंगे।"

यहाँ यह कहना पडेगा कि अदालत के द्वारा जवाब आप ही से कोई माँगने को खडा हो तो हो, क्यों कि आप ही निष्प्रमाण झूठी बातों को प्रसिद्ध कर रहे हैं। "रामानुज सम्प्रदाय के सभी पीठों में श्रीतोताद्रिपीठ प्रधान है।" ऐसा लिखनेवाले आप ही हैं, इस की असत्यता ऊपर हम बता चुके है। रामानुज सम्प्रदाय के सभी पीठों में वे वडहलपीठ भी अन्तर्गत हैं, जिन से आप के तोताद्रिपीठ का कोई सम्बन्ध ही नहीं। अब इस बात की विशेष विवेचना करने की आवश्यकता नहीं कि अदालत के द्वारा जवाब आप से माँगा जा सक्ता है या उन से!

फरिश्ताजी फर्माते हैं–"सन्न्यासियों से बढ कर गृहस्थाश्रमी कभी नहीं हो सक्ते, इसे सभी सनातनधर्मावलम्बी स्वीकार करते हैं। फिर तोताद्रि की गद्दी से जिस पर सन्न्यासी ही अधिष्ठित होते है काञ्ची के गृहस्थाचार्य कभी बडे नहीं हो सक्ते।

इस विषय की चर्चा पहले हम कर चुके हैं यदि वास्तव में सन्न्यासी से गृहस्थाश्रमी बडे नहीं सक्तें तो, आप के सन्न्यासी श्रीतोताद्रि स्वामीजी उन आचार्यों को जो कि गृहस्थ थे किस दृष्टि से देखते होंगे! यदि वे सब गृहस्थ आचार्य आप के सन्न्यासी श्रीतोताद्रि स्वामीजी की अपेक्षा नीचे दर्जे के है तो उन की पूजा आप के सन्न्यासी आचार्य कैसे करते हैं! सर्वमूल आचार्य भगवान् लक्ष्मीनारायण से लेकर श्रीवरवरमुनिस्वामीजी तक सब आचार्य क्या सन्न्यासी ही थे! यदि भगवान् लक्ष्मीनारायण और विष्वक्सेनजी को हम छोड दें, तो भी कई गृहस्थ आचार्य और है। श्रीराममिश्र, श्रीपुण्डरीकाक्ष, श्रीमहापूर्ण, श्रीकूरेशस्वामी, श्रीपराशर भट्टारक आदि महनीय आचार्य, जो कि हमारे आचार्यपरम्परा

के श्रेष्ठरत्न हैं, गृहस्थ ही तो हैं। आप के सन्न्यासी श्रीतोताद्रिपीठ के आचार्य भी प्रतिदिन इन सब आचार्यों की स्तुति, उन को नमस्कार, उन का पूजन आदि करते हैं, तब आप एक दम यह फैसला कैसे दे सक्ते हैं कि— सन्न्यासी से बढ कर गृहस्थाश्रमी कभी नहीं हो सक्ते ? आप के लेख में 'बढकर' शब्द आया है, इस से मालूम होता है कि आप गृहस्थ को सन्न्यासी से बढकर तो नहीं मानते, किन्तु दोनों को बराबर के मान सक्ते हैं। क्या यह आप को स्वीकार है ? तब भी तो आप के लेख में पूर्वोक्त विरोध होंगे। आप सभी सनातन धर्मावलम्बियों को क्यों खींचते हैं ? अपने ही सम्प्रदाय के अवलम्बियों को लीजिये, उन ही से इस बात का निर्णय करा लीजिये कि सन्न्यासी से गृहस्थ कभी बढ कर नहीं हो सक्ता।

आगे फरिश्ताजी फर्माते हैं—"साम्प्रदायिक मर्यादानुकूल श्रीतोताद्रि गद्दी के आचार्य चरणों के समक्ष और पीठस्थ आसन पर भी नहीं बैठ सक्ते, यह मर्यादा अब भी विद्यमान है।" महाशय जी ! आप ने इस मर्यादा के तत्व को कहाँ से जाना ? आप के श्रीतोताद्रि पीठ के आचार्य के सामने कोई पीठस्थ आता ही क्यों ? आप को इस मर्यादा का अनुभव कहाँ पर और कब हुआ। आप ऐसी झूठी निष्प्रमाण बातों को लिख कर सर्वसाधारण को धोखा न दें। आप के लेख ही को कोई प्रमाण नहीं मान लेगा। वस्तुतत्व तो यह है कि आप के श्रीतोताद्रिपीठ के आचार्य न किसी पीठस्थ के पास जाते हैं, और न कोई पीठस्थ इन के पास आता है, तब आप की इस मर्यादा का निर्णय किसी को कैसे होगा ?

आगे फरिश्ताजी ने श्रीकाञ्ची के पीठ को भी अष्टदिग्गजों में से एक होना स्वीकार कर बडी उदारता दिखायी है। विद्वानों द्वारा श्रीम-

तिवादिभयङ्कर की उपाधिप्राप्त होना भी स्वीकार किया है। इस के लिये भी आप धन्यवादार्ह है।

इस के पश्चात् फरिश्ताजी ने श्रीप्रतिवादिभयङ्कराचार्य के वश को वर्तमान मे सौ सवा सौ घरो में विस्तृत बताया है, हम समझते है आप को इस गणना के लिये बहुत परिश्रम करना पडा होगा! फरिश्ताजी ने यह परिश्रम इस लिये उठाया है कि श्री १००८ श्रीमान् अनन्ताचार्य स्वामीजी, जिन की निन्दा के लिये फरिश्ताजी ने यह लेख लिखा है, इस विस्तृत वश मे उत्पन्न होने के कारण अप्रधान सिद्ध किये जाँय! किन्तु एक विस्तृत वश में होने के कारण ही कोई अप्रधान वा अयोग्य सिद्ध नहीं हो सक्ता। एक मूलपुरुष की वशपरम्परा जैसे विस्तृत रूप में फैलती है, वैसे ही शिष्यपरम्परा भी विस्तृत रूप में फैलती है। एक गुरु के हजारों शिष्य होते है, उन में से कोई एक पुरुष कारण विशेष से प्रधान माना जा सक्ता है, ऐसे ही एक पुरुष के वश में एक पुरुष प्रधान माना जा सक्ता है। आप के वर्तमान श्रीतोताद्रिस्वामी के भी सैकडो गुरुभाई निकलेंगे, एक दो सन्न्यासी भी हो सक्ते है, तब क्या वे भी अप्रधान वा अयोग्य माने जाँय?

फरिश्ताजी का कहना है कि "धनी होने के कारण और अतएव उत्तर देश में आते जाते रहने के कारण श्रीमद् अनन्ताचार्य स्वामीजी विशेष प्रसिद्ध हो गये है।" यह सच है कि कारणविशेष ही से कोई पुरुष प्रसिद्धि पाता है किन्तु उक्त स्वामीजी महराज की प्रसिद्धि धन से नही हुई है, उन से भी अधिक धनी ससार में हजारों है। आप का "अतएव" भी असङ्गत है, उत्तर देश में आने जाने के लिये कितने धन की आवश्यकता है? क्या कोई धनिक न होने पर उत्तर देश में आ नहीं सक्ता, उत्तर देश में न सही, दक्षिण देश ही में और लोग प्र-

सिद्ध क्यों न हो जाँय। यदि आप की यह उक्ति युक्ति-युक्त है, तो यह आप के श्रीतोताद्रि स्वामियों के विषय में भी लागू हो सक्ती है। श्रीतोताद्रिपीठ के स्वामियों मे आज तक जितने पुरुष हुए, वे सब एक रूप से प्रसिद्ध नहीं हुए, पहगषिरान् स्वामी को उन के किये हुए विशेष कार्यों से प्रसिद्धि प्राप्त हुई थी। उन्हों ने भी धन ही से प्रसिद्धि प्राप्त की थी, वे ही उत्तर देश में आये थे, उन के पश्चात् वर्तमान श्रीतोताद्रि स्वामी ने उत्तर देश में भ्रमण किया, इस का भी तो कारण आप का "अतएव" ही है। फरिश्ताजी! आप क्या यह नहीं समझते कि आप के श्रीतोताद्रिपीठ को धनी होने के कारण ही प्रसिद्धि प्राप्त हुई है। इसी जोर से तो आप ने श्रीतोताद्रिपीठ को श्रीरामानुज सम्प्रदाय के सब पीठों में प्रधान बना दिया है।

फरिश्ताजी व्यङ्ग से कहते है कि "काञ्ची में ही क्यों दक्षिण देश भर मे श्रीप्रतिवादिभयङ्कर के शिष्य बहुत नहीं है." इस पर हमें यह कहना है कि द्राविड तैलङ्ग, कर्णाटक देश में श्रीप्रतिवादिभयङ्कर के शिष्यों की संख्या जितनी है उतनी और किसी पीठ के शिष्यों की नहीं, इस का निश्चय तो कोई निष्पक्षपाती पुरुष ही कर सक्ता है। थोडी देर के लिये यदि मान भी लिया जाय कि इस पीठ के द्राविड देश में शिष्य कम है, तो क्या इस से प्रतिवादिभयङ्करपीठ की या उक्त स्वामी जी की अप्रधानता सिद्ध हो जायगी? यदि एक देश में शिष्य कम होने से किसी आचार्यपीठ की अप्रधानता होती है तो उत्तर देश में शिष्य कम होने से आप का श्रीतोताद्रिपीठ भी अप्रधान क्यों न हो? आज आप एक नगर और एक देश में शिष्य कम होने की बात लिखते हैं, कल एक ग्राम और एक घर में शिष्य कम होने से भी आप किसी को अप्रधान सिद्ध करने का यत्न करेंगे, यह सब केवल हास्यास्पद उक्तियाँ है!

आगे फरिश्ताजी लिखते हैं—"हाँ, श्रीअनन्ताचार्यजी तथा इन के पूज्यचरण पिताजी श्रीकृष्णाचार्यजी के उत्तर देश में भ्रमण करने के कारण उत्तर में श्रीवैष्णवधर्म के प्रचार का श्रेय बहुत कुछ इसी वंश को है" क्या ही उदारता है, और क्या ही सत्यवादिता है ! फरिश्ताजी शायद इस बात को नहीं जानते कि वर्तमान श्रीमद् अनन्ताचार्यस्वामीजी के वृद्धप्रपितामह श्रीमद् अनन्ताचार्यस्वामीजी महाराज ने एक शताब्दी के पूर्व इस उत्तर भारत में दिग्विजय यात्रा कर के श्रीवैष्णव धर्म का अङ्कुरारोपण किया था, जिन के ज्ञानभक्ति वैराग्यादिगुण असीम साहस परमोदारता आदि की कीर्ति आज भी गाई जा रही है। मारवाड के चारणों के मुँह से उक्त महाराज के छन्दोवद्ध चरित्र अब भी सुने जा सक्ते हैं। उन के पश्चात् वर्तमान स्वामीजी के प्रपितामह श्रीनिवासाचार्य स्वामीजी ने भी उत्तर देश में श्रीवैष्णवधर्म का विशेष प्रचार किया था, जिन्हों ने श्रीपुष्करक्षेत्र में श्रीरङ्गनाथ के मन्दिर की प्रतिष्ठा कराई थी। फरिश्ताजी को जानना चाहिये कि भारतखण्ड में कोई प्रान्त ऐसा नहीं है, जहाँ पर श्रीप्रतिवादिभयङ्करपीठ के आचार्यों ने श्रीवैष्णवधर्म के प्रचारार्थ यत्न न किया हो।

आगे फरिश्ताजी फर्माते हैं—"काञ्ची में प्रतिवादिभयङ्कर गद्दी के शिष्य नाममात्र को हैं, क्यों कि वहाँ वडहलों की प्रधानता है तेङ्कलों की नहीं" इत्यादि। फरिश्ताजी ने शायद यह समझ लिया है कि काञ्ची भी तोताद्रि (नाङ्गुनेरी) के सदृश एक छोटा सा गाँवड़ा है। काञ्ची के समान बडे नगर में श्रीप्रतिवादिभयङ्कर गद्दी के शिष्य कम हों तो इस से क्या न्यूनता सिद्ध होगी ? वहाँ वडहल लोग अधिक हैं, यह सच हो सक्ता है, किन्तु इस से श्रीप्रतिवादिभयङ्करपीठ को किस प्रकार न्यूनता प्राप्त होगी।

आगे फरिश्ताजी फर्माते हैं—" काञ्ची में वहाँ इन के अधीनस्थ कोई मन्दिर भी नहीं है। श्रीवरदराज भगवान् का मन्दिर वडहल आचार्यों के हाथों में है। ये आचार्य वहाँ प्रसिद्ध धनिकों श्रीमानों में से एक हैं। आपने हाल ही में अपना एक छोटा मन्दिर भी बनवाया है। यह सब व्यर्थ बातें आप किस लिये लिख रहे है, मालूम नहीं होता! क्या मन्दिर अधीन में होने से ही किसी की प्रधानता होती है! यह तो आपने नवीन बात सुनायी। मन्दिर अधीनस्थ हो, और वह भी काञ्ची ही में हो, तभी प्रतिवादिभयङ्करपीठ की और उक्त स्वामीजी की प्रधानता होगी, कैसी प्रबल अकाट्य युक्ति है! आपने व्यर्थ की बातें लिखी हैं, इसी से हम को भी लिखना पडता है। काञ्ची के श्रीवरदराज भगवान् का मन्दिर और श्रीदीपप्रकाश भगवान् का मन्दिर आज वड-हल लोगों के आधीन में होने पर भी पूर्व में तेङ्गल आचार्यों के तत्रापि श्रीप्रतिवादिभयङ्कराचार्य के अधीन में थे, यह बात कई पुराने कागजों से सिद्ध होती है। कालक्रम से यह अन्यथाभाव कई कारणों से हुआ है। वडहल आचार्यों के अधीन में तो सन् १८६० के पश्चात् ही गया है, यह बात प्रसिद्ध है। काञ्ची में प्रतिवादिभयङ्कराचार्य के अधीन में दिव्य देश न होने पर भी तिरुनगूर के कई दिव्यदेश अद्यापि प्रतिवादि भयङ्कराचार्य के अधीन में हैं। यदि मन्दिर अधीनस्थ होने से ही किसी आचार्यपीठ की प्रधानता होती हो, तब तो कहना पडेगा कि श्रीतोताद्रि पीठ की अपेक्षा भी प्रतिवादिभयङ्करपीठ अधिक योग्यता रखता है, क्यों कि श्रीतोताद्रिपीठ के अधीन में तो एक ही दिव्यदेश है। श्रीप्रतिवादि भयङ्कराचार्य के अधीन में एक दो नहीं कई दिव्यदेश हैं। फरिश्ताजी! मन्दिर अधीनस्थ होने की बात आप ने उठायी है तो हम आप से यह पूछते हैं कि सिवाय तोताद्रि के मन्दिर के और किसी दिव्यदेश में क्या आप के तोताद्रिस्वामी की भी तीर्थमर्यादा है! हाँ यह सच है कि अब

कभी आप के श्रीतोताद्रिस्वामीजी और किसी दिव्यदेश में जाते है, तब तीन दिन के लिये कुछ मर्यादा आप की की जाती है, किन्तु तब भी आप गोष्ठियो में खडे हो कर प्रथम द्वितीय वा तृतीय आदि नम्बरों में तीर्थ प्राप्त नहीं कर सक्ते। वह योग्यता तो उन उन दिव्यदेशों में अन्यान्य आचार्यों को ही प्राप्त है। श्रीकाञ्ची, श्रीरङ्गजी, श्रीवेङ्कटेशजी, श्रीयादवाद्रि आदि सर्वप्रधान दिव्यदेशो में भी प्रतिवादिभयङ्करपीठ को यह तीर्थ मर्यादा प्राप्त है। क्या इस बात को आप भूल गये? फरिश्ताजी! इन सब बातों मे किसी पीठ की प्रधानता व अप्रधानता सिद्ध नही हो सक्ती, इस बात का विचार करिये कि वर्तमान श्रीमत् प्रतिवादिभयङ्कर अनन्ताचार्य स्वामीजी महाराज ने काञ्ची में कोई नवीन मन्दिर तैयार नहीं कराया है, किन्तु प्रतिवादिभयङ्करपीठ के आदिम आचार्य का जो मन्दिर वहाँ पर था, उस को अभिवर्धित और परिष्कृत किया है।

आगे फरिश्ताजी लिखते है—" मठ सन्न्यासियों के होते हैं, गृहस्थों के नहीं। " फरिश्ताजी! आप किस आधार पर यह बात लिख रहे है, मालूम नही होता! ' मठ सन्न्यासियों के होते है '—इस का अर्थ क्या है? क्या मठ के स्वामी सन्न्यासी होते है, या मठ में रहनेवाले सन्न्यासी होते हैं, और मठ सन्न्यासी ही के होते है या सन्न्यासी के भी? जो अपने द्रव्य से मठ बनवावे वही तब तक स्वामी है, जब तक कि दान आदि के द्वारा अपने स्वत्व का त्याग न कर दे। ऐसे मठ के स्वामी सभी आश्रम के हो सक्ते है। मठ में वास करनेवाले तो सभी आश्रम के हो सक्ते है, इस में कहना ही क्या है? " मठ " शब्द मठ धातु से बना है। मठन्त्यत्रेति मठः—यह इस शब्द की व्युत्पत्ति है। मठ धातु

वासार्थक है, अर्थात् वास करना मठ धातु का अर्थ है। जहाँ वास किया जाय वही मठ है यह योग्यार्थ है. इस प्रकार तो गृहमात्र मठ होंगे। " मठश्छात्रादिनिलय " इस अमरसिंह की उक्ति के अनुसार तो छात्र आदि जहाँ वास करें वही मठ है। विद्यार्थी लोग छात्र कहलाते है. और विद्यार्थी पूर्वकाल में गुरुगृह में वास करते हुए विद्याध्ययन करते थे यह सर्वत्र प्रसिद्ध विषय है। गुरु प्रायः गृहस्थ ही हुआ करते थे—इस में भी प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं है, विद्यार्थवास गुरुकुलवास कहलाता है, अतएव छात्र निलय गुरुगृह अवश्य है। तब तो गृहस्थ गुरु का गृह जहाँ विद्यार्थी वास करें मठ कहलाने योग्य अवश्य होगा. नहीं नहीं वही गुरुगृह मुख्य मठ है। अमरकोश के टीकाकारों ने—" छात्रादिनिलय. " इस वाक्य में आदि शब्द का अर्थ परिव्राजक क्षपणक आदि बताया है। तब छात्रनिलय परिव्राजकनिलय, क्षपणक निलय. ये सब मठ हुए। छात्रनिलय का अर्थ यह नहीं कि छात्र ही जहाँ वास करें और नहीं, इस प्रकार आदि शब्द से सन्न्यास का ग्रहण होने पर सन्न्यासियों का वास स्थान भी मठ होता है, प्रधानतया अमरसिंह ने छात्रनिलय ही को मठ बताया है। अब फरिश्ताजी विचार करे कि " मठ सन्न्यासियों के होते हैं गृहस्थों के नहीं " यह उक्ति कहाँ तक ठीक है। वैजयन्तीकोश में " मठावसथ्यो छात्रादिवासः " इस प्रकार पठित है। अब तो मठ सन्न्यासी ही के होते है—ऐसा न कह कर सन्न्यासी के भी होते है—ऐसा कहना पड़ेगा। अर्थात् मठ शब्द अनेकार्थक है, छात्रावास, परिव्राजकावास, इत्यादि सभी मठ है। ऐसे मठ वे सब गृह हो सक्ते है, जहाँ पर गृहस्थ गुरुवास करते हुए विद्यार्थियों को रहने का स्थान देते है। अतएव फरि–

श्ताजी का कहना सर्वथा अयुक्त है। अब प्रतिवादिभयङ्कर मठाधीश्वर कहने से क्या भूल हुई है, वा हो सक्ती है ?

आगे फरिश्ताजी फर्माते है कि —" स्वयं गादीस्वामीजी ही से वे पूछें तो विदित होगा कि वे भी श्रीतोताद्रिस्वामीजी को बडे मानते होंगे, क्यों कि वे साम्प्रदायिक मर्यादा का विध्वंस करना पसन्द नहीं करते।" फरिश्ताजी ! आप का लिखना बहुत सच है, गादीस्वामीजी किसी साम्प्रदायिक मर्यादा का विध्वंस करना पसन्द नही करते। किन्तु आप की वह साम्प्रदायिक मर्यादा कहाँ से आई, यह तो बतलाइये, आप ही ने तो नही बनाली ? ऐतिहासिक ग्रन्थों में तो कहीं कुछ इस मर्यादा का पता नही है। श्रीतोताद्रिपीठ ही सब से बडा है—इस विषय की मीमासा तो हम पहले कर चुके है। गादीस्वामीजी श्रीतो-ताद्रि स्वामीजी ही को क्यों, भागवत मात्र को अपने से बडे मानते है, वे ही क्यों, प्रतिवादिभयङ्कराचार्य और उन के शिष्यवर्ग सभी अपने को श्रीवैष्णवों के दास मानने के लिये तैयार है, क्यों कि उन का प्र-सिद्ध दास्य नाम " श्रीवैष्णवदास " है। श्रीवैष्णवत्व के नाते से तो हम सब श्रीवैष्णव मात्र को अपने से बडा मानने के लिये तैयार है, किन्तु तोताद्रिपीठ के स्वामी होने के कारण सब से बडा मानना युक्ति सङ्गत नही है।

फरिश्ताजी ! अब तनिक विचारिये कि भूल आप की हुई है, या उन लोगों की, जिस को वे सुधारें और परोत्कर्षासहिष्णुता पर-कीर्तिश्रवणोपेक्षा इत्यादि आप मे है, या उन में, इस बात का भी फै-सला कर लीजिये।

॥ समाप्तः ॥

——(०)——